जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 11 • नवंबर, 2001

With best compliments from :

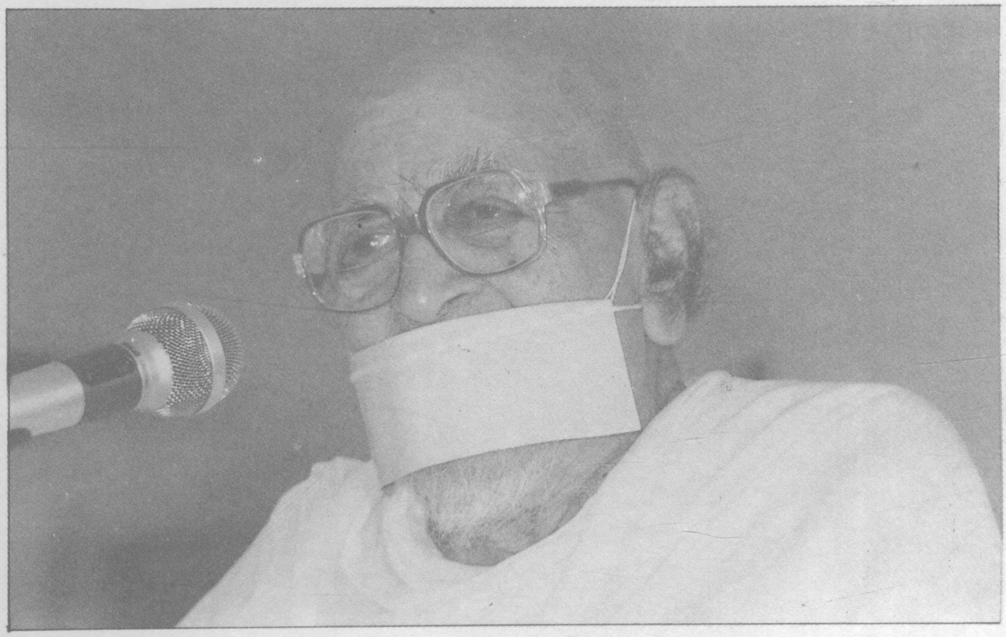

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

नवंबर, 2001 | वर्ष 49 | अंक 11 | रु. 15.00

विमर्श

9
प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः स अर्थः

19
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मांसाहार : एक विवेचना

22
समणी हिमप्रज्ञा
संतुलन का सेतु है अनेकांत

•
आवरण
अडिग/खेराज

अनुभूति

29
मुनि धनंजयकुमार
किस दिशा में है युवा पीढ़ी

33
समणी शारदाप्रज्ञा
नानाजातीयैश्चैते प्राणा भवन्ति

36
कहानी
रमेशचंद्र शाह
बुद्धिजीवी

42
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
स्वयं सत्य खोजें

शीलन

45
विद्यानिवास मिश्र
संस्कृति की प्रासंगिकता

48
साध्वी विमलप्रज्ञा
महावीर की स्वस्थता का रहस्य

50
साध्वी विपुलप्रज्ञा
मेरा प्यारा बचपन

52
बालकथा
मुनि सुमेरमल लाडनूं
यश-अपयश

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

वैदिक और श्रमण दृष्टियों के संयोजन से भारतीय आध्यात्मिक परंपरा का निर्माण हुआ है। वेदों में श्रद्धा रखने की प्रधानता रहते हुए भी निवृत्तिमार्ग प्रवृत्ति से उत्कृष्टतर माना गया। संसारवाद और कर्मवाद में दृढ़ विश्वास, मोक्ष को चरम लक्ष्य और उसके लिए संसार से विरक्ति को उपयुक्त साधन स्वीकार किया गया। दूसरी ओर, सांसारिक जीवन का सहसा त्याग न वैदिक परंपरा के अनुकूल था, न व्यवहार में संभव। अतएव आश्रम-चतुष्टय की कल्पना हुई। पहले तीन आश्रमों में वैदिक कर्मयोग, अंतिम में संन्यास के विधान से वैदिक और श्रमण दृष्टियों, प्रवृत्ति और निवृत्ति का आपाततः समाधान हो जाता है। अवैदिक संप्रदायों ने भी उपासकों के लिए कर्मप्रधान शील का प्रतिपादन किया। इन दो पक्षों के समाधान के प्रयत्न गीता, पुराण और तंत्रों में देखे जा सकते हैं। गीता में कर्म और अकर्म की वास्तविक एकता प्रतिपादित की गई है और आनुष्ठानिक कर्म को कर्मयोग में एवं कर्मयोग को ज्ञान में समाहित किया गया है।

पुराणों में ज्ञान को उपासनासाध्य मान कर एक नए कर्मकांड का विधान है, जिसने पुराने वैदिक यज्ञों का स्थान ले लिया। तंत्रों में आंतरिक स्वातंत्र्य के रूप में ज्ञान और कर्म की मूल एकता का प्रतिपादन है। पुराणों में वर्णित भक्ति में कर्म और संन्यास समर्पण के द्वारा समाहित होते हैं, तंत्रों में प्रकृति-परावर्तन के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सहज समाधान हो जाता है।

——डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे

जो सत्य लगता है उसे छोड़ा भी कैसे जाए और जो सत्य नहीं लगता उसे स्वीकार भी कैसे किया जाए—यह समस्या है और जटिलतम समस्या है। पर यह भी उतनी ही बड़ी समस्या है कि जिसे मैं सत्य मानता हूं वह सत्य ही है, इसका निर्णय मैं कैसे करता हूं? आखिर सीमित बुद्धि, सीमित साधनों और देश-काल की सीमित मर्यादाओं के द्वारा ही तो मैं उसे सत्य मान रहा हूं। इसलिए इतना आग्रह कैसे रख सकता हूं कि जो मैंने पाया वही अंतिम सत्य है। जो व्यक्ति अकेला हो या अकेला रहना चाहता हो, वह फिर भी ऐसा आग्रह रख सकता है, किंतु जो किसी समुदाय में रहना चाहे और रहे, वह ऐसा आग्रह कैसे रखे? उसके लिए ऋजुपंथा यह है कि बहुश्रुत साधुओं व आचार्य के सामने अपना विचार रख दे, फिर वे जो मार्ग सुझाएं, उसका अनुगमन करे।

यह विचार-स्वतंत्रता का हनन नहीं है। यह सामंजस्य का मार्ग है। यह किसी स्वार्थ या मानसिक दुर्बलता से किया जाए तो वह दोष है। यह निर्दोष तभी है, जबकि अपनी अपूर्णता और सत्य-शोध की विनम्र भावना से प्रेरित हो किया जाए।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

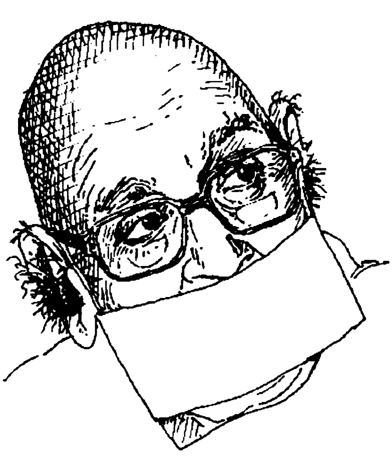

पावन जन्मोत्सव

—हर्षाभिवादन—

एक धारणा है कि धर्म-गुरुओं का काम आत्मा-परमात्मा की चर्चा तक सीमित है। उनका कार्यक्षेत्र अध्यात्म है। वे परिवार, समाज, शिक्षा या राष्ट्र के बारे में नहीं सोच सकते। किसी समय मैं स्वयं भी इसी भाषा में सोचता था। मुझे कुछ व्यक्तियों ने अनेक बार सामाजिक बुराइयों पर प्रहार करने का अनुरोध किया। मैं उनकी बात टालता रहा। सामाजिक परंपराओं से हमें क्या लेना-देना है? इस विचारधारा के कारण बहुत वर्षों तक मैं मौन रहा। धीरे-धीरे चिंतन बदला। चिंतन बदलते ही धर्म का व्यापक स्वरूप सामने आ गया। धर्म का काम है बुराई का प्रतिकार और अच्छाई का विस्तार। धर्म के मंच से बुराई का प्रतिकार नहीं होगा तो कौन करेगा? अणुव्रत का संपूर्ण कार्यक्रम बुराइयों की जड़ें खोदने का कार्यक्रम है। वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि जितनी बुराइयां हैं, अणुव्रत के माध्यम से उनको दूर किया जा सकता है। कम तो किया ही जा सकता है। इसी आस्था को लेकर हमने लंबी पदयात्राएं कीं, सब जातियों और वर्गों के लोगों से संपर्क साधा, लोकजीवन की समस्याओं का अध्ययन किया और उनके समाधान की प्रक्रिया प्रस्तुत की।

—आचार्यश्री तुलसी

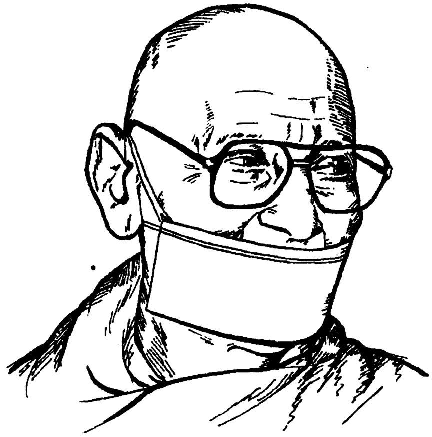

एक आदमी ने पूछा—आचार्य तुलसी कौन हैं? मैंने कहा—मनुष्य हैं। उसे संतोष नहीं हुआ। फिर पूछा, तो मैंने कहा—धार्मिक हैं। उसने सोचा—मैं कुछ छिपा रहा हूं। फिर जिज्ञासा की, तो मैंने बताया—जैन धर्म में दीक्षित हैं। 'इससे आगे भी उनका कोई परिचय है?' इस प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा—तेरापंथ के आचार्य हैं। जिज्ञासा का तार और आगे बढ़ा तो मैंने कहा—अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक हैं।

प्रश्नकर्ता दो क्षण के लिए चिंतन की गहराई में डूब गया। उसके ललाट पर रेखाएं खिंच गईं। वह प्रकृतिस्थ होकर बोला—आप बुरा न मानें तो मैं एक शंका का समाधान चाहता हूं।

—इसमें बुरा मानने की क्या बात है? जो आपके मन में हो, वह कहिए?

—मैंने सुना है कि अणुव्रत आंदोलन असांप्रदायिक है। क्या एक संप्रदाय का आचार्य असांप्रदायिक आंदोलन का प्रवर्तन या संचालन कर सकता है?

—आचार्य तुलसी अनेकांत में विश्वास करते हैं। अनेकांत का अर्थ है—दो विरोधी धर्मों के सह-अस्तित्व का स्वीकार। इसलिए एक व्यक्ति में सांप्रदायिक और असांप्रदायिक दोनों भाव हो सकते हैं।

—संप्रदाय का अर्थ जानना चाहता हूं।

—संप्रदाय का अर्थ है निश्चित गुरु-परंपरा का स्वीकार।

—तब इसमें बुरा क्या है?

आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं—संप्रदाय बुरा नहीं है। बुरी है सांप्रदायिकता।

—सांप्रदायिकता का अर्थ?

—अपने संप्रदाय से भिन्न संप्रदायों के प्रति घृणा, तिरस्कार तथा अनादर का भाव रखने वाली मनोवृत्ति। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही संप्रदाय बदनाम हुए हैं।

—आचार्यश्री की मनोवृत्ति असंकीर्ण कहां है? उनका मानवीय पक्ष धार्मिकता से, धार्मिक पक्ष जैन-धर्म से और जैन-धर्म तेरापंथ से सीमित है। इस सीमाकरण में असंकीर्णता कैसे हो सकती है?

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
नवंबर, 2001

प्रसंग

स्वयं सत्य खोजें

यह एक शाश्वत और शास्त्रीय मत है—'अप्पणा सच्चमेसेज्जा—स्वयं सत्य खोजें', लेकिन आज तो इसका उलट ही देखने में आ रहा है। दूसरे का सत्य ही मेरा 'सत्य' होने की विवशता बढ़ती जा रही है। लौकिक जीवन में यह स्थिति आज घनीभूत है। आध्यात्मिक जीवन भी इस प्रतिच्छाया से क्लांत हुआ प्रतीत हो रहा है। अंधकार के इस घटाटोप में तब भी हमें प्रकाश को तलाशना है। दीप-पर्व 'श्री-समृद्धि' का हेतु है, पर 'श्री-समृद्धि' के सच्चे अर्थ को अब तलाशने की नितांत आवश्यकता है—एक अनिवार्य जरूरत। 'स्वयं सत्य खोजें'—इस बार के दीप-पर्व का क्या यही संदेश नहीं होना चाहिए?

ग्यारह सितंबर की न्यूयार्क घटना से सबक लें और इसके बाद आज तक दुनिया के पटल पर जो कुछ घटित हुआ है, उसे समझें तो वह भी हमें अपने 'सत्य' की खोज के लिए ही विवश कर रहा है। श्री-समृद्धि के मानी परिग्रह या अर्थ-संचयन भर नहीं है। 'श्री' का अर्थ श्रेष्ठ भी है और सरस्वती भी। सफलता, सुंदरता, स्वच्छता और प्रकाश भी 'श्री' के ही अर्थ हैं। इसी प्रकार 'समृद्धि' का तात्पर्य भी मात्र धन-वैभव नहीं; अभ्युदय, उत्कर्ष, सिद्धि और सौभाग्य भी होता है। दीप-पर्व पर लक्ष्मी की आराधना तो की जाती है, साथ ही भगवान महावीर का 'निर्वाण' भी तो होता है और आसुरी वृत्तियों का मूलोच्छेद कर राम का घर आगमन भी। यह सब मिलकर 'श्री-समृद्धि' के द्योतक बनते हैं। दीप-पर्व के इस अर्थ को, ऐसे सत्त्वमय संदेश को तभी पा सकते हैं जब 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' का भाव हम में उद्‌घाटित हो।

स्वयं सत्य की खोज के लिए यदि हम अग्रसर होने लगें तो धन-वैभव या संग्रह के अर्थ ही बदले हुए प्रतीत होने लगेंगे। तब परिग्रह नहीं, उसके मूर्च्छा भाव से विरक्ति का बोध हम में जगने लगेगा। 'मेरेपन' से मुक्त परिग्रह वस्तु की सार्थक

उपयोगिता भर कहलाएगा। तब परिग्रह प्रपंच नहीं, एक साधन भर होगा और तब परिग्रह एक विकृत और रुग्ण मानसिकता का पर्याय नहीं होगा। ऐसी स्थिति तभी संभव है जब हम परिग्रह-बुद्धि से मुक्त हों।

वर्तमान में ऐसी स्थिति असंभव प्रतीत होती है। इसीलिए जो जितना परिग्रही है वह उतना ही भयभीत भी है। इस प्रकार हम मान सकते हैं कि भयोत्पादन का मूल स्रोत परिग्रह है। भयोत्पादन ही हिंसा का निमित्त बनता है और तब हम यह भी कह सकते हैं कि हिंसा का मूल बीज परिग्रह है। धन और वैभव की दृष्टि से आज अमेरिका सर्वाधिक परिग्रही है और हमने देखा है कि आज सबसे अधिक भयभीत वही है। इसी भयोत्पादन की वजह से विज्ञान और प्रौद्योगिकी का सर्वाधिक इस्तेमाल अब तक परिग्रह की सुरक्षा के लिए हुआ है। अणुबम हो या जैविक-रासायनिक आयुध—ये सब भयोत्पादन की परिणतियां हैं। परिग्रह की संरक्षा के लिए ऐसे हिंसक आयुधों का निर्माण इसीलिए तो करना पड़ा कि 'परिग्रह-बुद्धि' से वह मुक्त नहीं है। मेरेपन की भावना से भरा परिग्रह इसीलिए विकृत और रुग्ण मानसिकता का द्योतक है और इसी कारण हिंसा से शांति की स्थापना का दिवास्वप्न घर करता है।

जो समर्थ है वही सही है—चहुं ओर यही राग आज अलापा जा रहा है। तभी सब जन आतंकवाद और उग्रवाद का उपाय हिंसा में देख रहे हैं। तभी हिंसा की ताकत से हिंसा की समस्या के समाधान का रास्ता अभीष्ट माना जा रहा है। आत्मरक्षा के लिए प्रति-आक्रमण न करना बेशक कायरता हो सकती है, पर आतंकवाद और उग्रवाद के मूल कारणों को अनदेखा करके की जाने वाली हिंसा से शांति की सतह सुदृढ़ नहीं हो सकती। इसीलिए हर ऐसे शांति-प्रयास में उसका खोखलापन झांकता नजर आता है। यह शांति प्रयासों की प्रवंचना है।

इस प्रवंचना को जान लेना ही 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' की ओर अग्रसर होना है। स्वयं सत्य खोजने की यही क्रिया हमें अनासक्त बना सकती है। निस्संदेह अनासक्त होना वैयक्तिक क्रिया है, पर इसी में समाधान निहित है। यह वैयक्तिक क्रिया समाजगत स्वरूप कैसे ग्रहण करे—यह विचारणीय पहलू है। क्योंकि सब जानते हैं कि आसक्ति में ही भोग की अतृप्त आकांक्षा छिपी होती है और यही दुश्चक्र परिग्रह, फिर हिंसा और आखिरशः सामाजिक विनाश के घटक खड़े करता है। सामाजिक विखंडन से ही अराजकता आती है और तभी स्वार्थांध लोगों की आ बनती है। यह स्वार्थांधता कई आवरणों में लिप्त होकर प्रकट होती है। कट्टरवाद के फन भी इसी से लपलपाने लगते हैं। विश्व-पटल पर यह सब आज नग्न रूप में देखा जा रहा है। समूची मानवता इससे संत्रस्त है, पर उपाय सिर्फ एक ही दिखाई दे रहा है—हिंसा के बरक्स प्रतिहिंसा। अमन और शांति का यह मार्ग कभी हो नहीं सकता, पर इसी मार्ग पर चलकर शांति और अमन को पाने की मूढ़ कोशिश हो रही है। ऐसा क्यों?

क्योंकि जिन ताकतों के बल पर ये प्रयास हो रहे हैं—उनके अपने निहित स्वार्थ हैं। सबसे बड़ा स्वार्थ है—महाशक्ति बने रहने का। डोलता हुआ अस्तित्व कैसे स्थिर रह सकता है और किस तरह सब 'मुजरे की अदा में' उस महाशक्ति के सामने खड़े रह सकते हैं—यह सबसे बड़ा उसका स्वार्थ है। ऐसा नहीं कि यह ऐसा रहस्य है जो दूसरे समझ नहीं रहे हों, समझ सब रहे हैं, पर सब निरुत्तर, मौन हैं। अस्ताचल की ओर गमन कर रहे उस रवि के सवाल के आगे जिस तरह समूचा जगत मौन खड़ा होता है—उसी तरह। सांध्य-रवि कहता है—'अब मेरा काम कौन सम्हालेगा?' तो माटी का एक दीया साहस के साथ आगे आ कहता है—'हे नाथ! जितना हो सकेगा, मैं करूंगा।' इस दीप-पर्व पर कितने ही दीये प्रज्वलित हुए हों, पर यह कौन कह सका कि 'जितना हो सकेगा, हे नाथ! मैं करूंगा।' भले यह 'छोटे मुंह बड़ी बात' हो, पर ऐसे छोटे-छोटे मुंह अब मुखरित हों; स्वयं सत्य खोजें और उसी को मुखरित करें। स्वार्थांधता का आवरण तभी फटेगा, तभी कट्टरवाद, उग्रवाद और आतंकवाद का मूलोच्छेद हो सकेगा। अमन और शांति के लिए 'श्री-समृद्धि' के ऐसे दीप सजाने होंगे जिनके प्रकाश में यह समाज परिग्रह से नहीं, परिग्रह-बुद्धि से मुक्त होगा, वैयक्तिक अनासक्ति का विकास समाजगत स्तर तक बढ़ेगा। तब कोई भी राष्ट्र महाशक्ति के मिथ्या अहंकार में नहीं, समता के सहजीवी सहकार में अपना अभीष्ट मानेगा।

और यह 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' की साधना से ही हो सकेगा। यह दीप-पर्व, महावीर का निर्वाण और राम का घर आगमन, आचार्य तुलसी का पावन जन्मोत्सव हमें इसके लिए अभिप्रेरित करे।

— शुभू पटवा

विमर्श

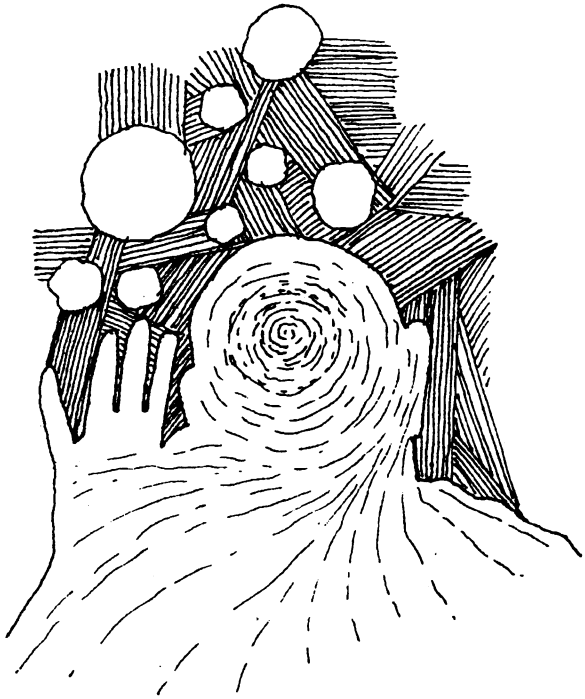

'सत्य की ही नहीं, मूल्यों की भी हमारी आज की कसौटियां वे नहीं हैं जो हमारे पारंपरिक दर्शनों और जीवनानुभवों में से निकलती हैं। पर ऐसा भी नहीं है कि हमने सचमुच नई कसौटियां गढ़ कर उन्हें अप्रासंगिक साबित कर दिया हो। कारण सिर्फ यही नहीं है कि दर्शन के क्षेत्र में हमने मौलिक चिंतन का काम करना कभी से बंद कर दिया है। उसकी कुछ न कुछ क्षतिपूर्ति तो जीते-जागते महात्माओं, कर्मज्ञों और साहित्यकारों ने की ही है। जीवन में भी वह पूरी तौर पर नष्ट-भ्रष्ट हो गई हो, ऐसा दावा अभी नहीं किया जा सकता। असफलता जो है, वह उन बुद्धिजीवियों की है जिनके बुद्धिजीवन की कसौटी ही संदिग्ध और आरोपित है। अपनी संस्कृति के मूलाधार से ही अलग और बेमेल यह अनुवादजीवी बुद्धि और उसकी उपज भी इसी कारण, हमारे परिवेश में निष्प्रभावी हो जाती है। सही बात तो यह है कि हमने अपनी 'बुद्धि' की जमीन पर खड़े होकर कभी पश्चिमी बुद्धिवाद और उसके निष्कर्षों को चुनौती देने की जरूरत ही महसूस नहीं की। इसीलिए, यह अचरज की बात नहीं कि 'हिन्द स्वराज' को भी हमारे बुद्धिजीवियों के वैचारिक स्वराज का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है, जैसे सत्याग्रह और असहयोग के पीछे भी दरअसल हमारे बुद्धिजीवियों का नहीं, केवल 'गूंगे-बहरे करोड़ों' की श्रद्धा का ही बल था।'

—रमेशचंद्र शाह

'वज्जालग्ग' कहता है जो वैभवरूपी वात व्याधि से मग्न होकर टेढ़ा चलते हैं, वे दारिद्रयरूपी ओषधि से सीधे हो जाते हैं (14.5)। 'अत्थो मूलं अणत्थाणं' अर्थात् अर्थ तो अनर्थ का मूल है। धन संग्रह से भरी हुई नौका के समान शीघ्र ही भवो भव में डूबता है। जैन धर्म में अर्थ संग्रह को परिग्रह के अंतर्गत गिना है। श्रावक धर्म में अणुव्रत के लक्षण में कहा गया है—'जो लोभ कषाय को कम करके संतोषरूपी रसायन से संतुष्ट होता है और दुष्ट तृष्णा का परित्याग करता है एवं आवश्यकतानुसार धन-धान्य, सुवर्ण का संग्रह करता है वह पांचवां अणुव्रत है। जैन धर्म में परिग्रह, त्याग की महत्ता भी सर्वभावेन निदर्शित है। यह परिग्रह अंतरंग और बाह्य दोनों होता है। परिग्रह से व्यक्ति अर्जन, रक्षण और नाश के अनेक दोषों को प्राप्त होता है और चारों से पराभूत होता है, जैसे ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती—वह लोभातिरेक के कारण विवेक नहीं रख सकता और लोक में तिरस्कार प्राप्त करता है।

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः स अर्थः

❑ प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

कोलकाता विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष एवं आचार्य व जोधपुर विश्वविद्यालय के कुलपति रह चुके प्रो. कल्याणमल लोढ़ा अनेक शैक्षिक, साहित्यिक व सांस्कृतिक संस्थानों से संबद्ध हैं। कोई दर्जन भर से अधिक ग्रंथों के रचनाकार व अनेक ग्रंथों के संपादक श्री लोढ़ा विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित हैं। सन् 1921 में जोधपुर (राजस्थान) में जन्मे श्री लोढ़ा इन दिनों कोलकाता में प्रवास कर रहे हैं।

भारतीय आचार्यों ने पुरुषार्थ के विवेचन में धर्म के पश्चात् अर्थ को द्वितीय स्थान दिया है और उसके अनंतर काम व मोक्ष हैं। इस क्रम में अर्थ का महत्त्व निर्विवाद है। इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि अर्थ का वह कौन-सा पक्ष है जिसे पुरुषार्थ में महत्त्व दिया गया, क्योंकि उसके साथ ही यह भी सत्य है कि उसकी निंदा भी की गई। मान्य और अमान्य, श्रेय और हेय इन दोनों पक्षों पर वस्तुतः विचार करना अपेक्षित है। यह भी स्मरण रखना होगा कि सभी धर्मों में अर्थ-धन को प्रायः किसी न किसी तरह अमान्य ही ठहराया गया है।

अब अर्थ के स्वरूप पर हम विचार करें। कठोपनिषद् (1-27) में यमराज व नचिकेता का प्रसिद्ध संवाद है। नचिकेता कहता है—'वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा'—मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। अगर मैंने आपका (यमराज का) दर्शन कर लिया तो धन-धान्य सभी प्राप्त हो जाएगा। मैं तो वही (आत्मविद्यारूपी) वर मांगता हूं। सारे प्रलोभनों के बावजूद नचिकेता धन-वैभव का तिरस्कार करता है, उसकी उपेक्षा करता है। वह चाहता है मृत्यु और आत्मा का गूढ़ रहस्य जानना। यमराज का उत्तर है—'तू सोने की इस सांकर में नहीं फंसा, जिसमें समस्त लोग जकड़ जाते हैं, तू श्रेय मार्ग का पथिक है, प्रेय मार्ग का पथिक नहीं। नचिकेता! तू मृत्यु के विषय में प्रश्न मत कर, 'नाचिकेतो! मरणं मानुप्राक्षी' पर नचिकेता ने इसे स्वीकार नहीं किया। यहीं यमराज सांपराय का महत्त्व बताते हैं—'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रभाद्यन्तं वित्त मोहेनमूढम् (2-6)।' वृहदारण्यक श्रुति में इसी के समानांतर प्रसंग है—याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का। मैत्रेयी कहती हैं, 'सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णास्यात्कथं तेनामृतास्यामिति' (2-4-2) जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूं! याज्ञवल्क्य समझाते हैं—'अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन' धन से अमरता की आशा-अपेक्षा व्यर्थ है, निष्फल है। मैत्रेयी पुनः कहती हैं—'ये न अहं न अमृतास्याम् किमहं

तेन कुर्याम्' जिससे अमर न हो सकूं उसे लेकर क्या करूं (2-3-4)? याज्ञवल्क्य पुनः कहते हैं—'न वा अरे मैत्रेयी! वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति' (2-3-5)। वित्त की कामना से वित्त प्रिय नहीं होता, आत्मा की कामना से वित्त प्रिय होता है अर्थात् वित्त का संबंध आत्मा से है, धर्म से है, आत्मा को ही जानना चाहिए। 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः।' श्रुतियों में ऐसे प्रसंग भरे हैं, जिनमें वित्त की आकांक्षा नहीं, आकांक्षा है आत्मवित् होने की।

'विवेक चूड़ामणि' में आद्य शंकराचार्य कहते हैं—'अमृतत्वस्य नाशस्ति वित्ते नेत्ये व हि श्रुतिः।' यही नहीं, 'अर्थमनर्थ भावच नित्यं नास्ति ततो सुख त्लेशं सत्यं' (मोहमुद्गर)। इसके परिप्रेक्ष्य में हम कुछ वैदिक ऋचाओं को भी देखें। ऋग्वेद (10-155) में कहा है कि अलक्ष्मी! आप विकृति आकृति से युक्त हैं—सदा आक्रोश करने वाली हैं। आप निर्जन प्रदेश में जाएं। आप दुर्भिक्ष पैदा करती हैं। दान-विरोधिनी इस अलक्ष्मी को दूर करें। वह समुद्र के पार दूसरी ओर चली जाए। वह हिंसक और कुत्सित शब्द बोलती है, सारा सूक्त अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रता का विरोध करता है। 'सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद्' के प्रसिद्ध श्रीसूक्त में भी 'अलक्ष्मी क्षुधा और पिपासा की जननी है—मलीन और क्षीणकाय है, उसका नाश हो। 'क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मी नाशियाम्यहम्' (9)। इसके साथ ही लक्ष्मी की प्रार्थना है—'मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि, श्री श्रयतां यशः। 'हे लक्ष्मी! मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हों। मेरी वाणी में सत्य का वास हो। मुझे धन और यश प्राप्त हों।' इस सूक्त में अपार ऐश्वर्य, वैभव, घोड़े, गाय, सेवक-सेविकाएं प्राप्त करने की प्रार्थना है। पुनः ऋग्वेद (1-15-7) में धन की कामना करने वाले याजक को सोमरस तैयार करने के निमित्त धन-प्रदायक अग्निदेव की स्तुति करने का उल्लेख है। पुनः प्रार्थना है 'द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्विरे। देवेषु ता वनामहे।' 'देवता अग्नि हमें सभी धन प्रदान करें।' सामवेद में धन के सदुपयोग का वर्णन है (5.3)। अथर्ववेद (1.15)—सरिताओं के अक्षय स्रोतों से हम पशु-धन-संपत्ति प्राप्त करें। पुनः यही वेद कहता है कि हमारे धन की क्षति न हो और हमारी कृषि सफल हो। आगे कहता है—'रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्या, पापीस्ता अनीनशम्' (7-120-4)। पुण्य से अर्जित अर्थ मेरे गृह को शोभायुक्त करे। पाप की कमाई मैंने नष्ट कर दी है। वेद का कथन है—'अग्नेय सुपथारायें', 'वचं स्याम पतयो रमणीम्', 'यो रत्न धावसु विद्यः सुदत्रः', 'अंह दधामि द्रविणं हविष्मते', 'वित्तेरमस्व बहुमन्य मानाः'—हम धनपति बनें, प्रभु ऐश्वर्य के लिए सुपथ पर ले जाएं। मैं त्यागी पुरुष को धन देता हूं। जो द्वेष से पार हो गया, उसी के पास धन आता है, ऋत पथ का अनुसरण करने वालों के यहां घृत की नदियां बहती हैं। देव मुझे धन दें, धन हमें उन्नयन के मार्ग पर ले जाए। पुनः कहा गया है—

का मर्यादा वयुना कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम्।
कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः।।
(ऋग्वेद 4.5.13)

धन-प्राप्ति की क्या सीमा है? वह मनोहर धन क्या है? द्रुतगामी अश्व जिस प्रकार संग्राम की ओर जाते हैं, हम समस्त ऐश्वर्यों की ओर गमन करते हैं (ऋग्वेद 4-6-13)। पुनः धर्म ऐश्वर्य की प्राप्ति से आलोकित होना कहा गया है। इस संबंध में कुछ वैदिक सूक्तियों का उल्लेख समीचीन है। ऋग्वेद (9-83-1) एवं सामवेद (565) में कहा है—

पवित्रं ते विततंब्रह्मणस्पते।
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्तनूर्न तदामो अश्नुते।
शृतास इद्वहन्तःस्तत्समागत।

अर्थात् हे वेदपते सोम! हमारी देह में स्फूर्ति दो, तप से शरीर तेजयुक्त और साधना से परिपक्व हो, क्योंकि इसके पश्चात् ही हम ऐश्वर्य, धन आदि प्राप्त कर सकते हैं।

पुनः ऋग्वेद (1.1.3) (2.13.13) एवं (1.189.1) में कहा गया है, 'अग्निना रयमश्नवत पोषमेव दिवे दिवे। यश सं वीरवत्तम्।' अर्थात् हे अग्निदेव, आप प्रतिदिन विवर्द्धमान धन, यश, पुत्र, पौत्र, वीर पुरुष प्रदान करें। पुनः 'असमभ्यं तद्वसो दानायराधः समर्थयस्वबहु ते वसव्यम्।' हे इंद्रदेव! आप महान ऐश्वर्यशाली हैं। श्रेष्ठ कार्यों के निमित्त धन प्रदान करें। हम सदैव धनप्राप्ति की कामना करते हैं। अथर्ववेद (3.24.5) में स्पष्ट कथन है—

शतहस्त समाहरसहस्राहस्त संकिर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह।

हे मानव! आप शत-शत हाथों से धन प्राप्त करें और सहस्र हाथों से उसका दान करें जिससे आप में सुकर्मों की वृद्धि होगी।

आचार्यों ने बार-बार बताया कि 'सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलं अर्थ' (चाणक्य) और तो और 'अधनस्य बुद्धिर्नविद्यते'। वाल्मीकि रामायण में श्रीराम भी लंका कांड में लक्ष्मण से कहते हैं कि धनहीन व्यक्ति सभी क्रियाओं से

वंचित हो जाते हैं, उनका कोई बंधु नहीं होता। सुभाषित है—

प्रथमेनार्जिता विद्या द्वितीयेनार्जितं धनम्।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति।।

'नीति वाक्यामृत' कहता है—'यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः स अर्थः'। भर्तृहरि का मत है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्तिः।

कौटिल्य ने घोषणा की—'अर्थ एव प्रधानः' क्योंकि 'अर्थ मूलोहि धर्म कामानि' (1.7)। विष्णु शर्मा तो पंचतंत्र में और आगे बढ़ गए—'धनोपार्जन के लिए प्राणी श्मशान का भी सेवन करता है और उसके अभाव में पुत्र पिता को भी त्यागता है।' 'सप्तशती' में आराधना के स्तोत्रों में भी उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। देवता लक्ष्मी से कहते हैं (4.15)—

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां,
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः।

इन्द्र कृत 'आद्या शक्ति महालक्ष्मी स्तोत्र' भुक्ति और मुक्ति का है—'सर्व सिद्धिमवाप्नोति' और 'सर्व पाप हरे' का, क्योंकि धन-धान्य की देवी होकर, वह मानवीय अस्मिता को पूर्णता प्रदान करती है, उसकी उर्वरता को, श्रेयस् और अभ्युदय को। अगस्त्य कृत 'लक्ष्मी स्तोत्रम्' में भी अंत में—'धन प्रदानात्धन ना येकः कुरु' कहा है। एक अन्य सुभाषित में कहा है—

तृणानि शय्या परिधान वल्कलं न बंधु मध्ये धनहीन जीवनम्।

क्योंकि 'वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च'। इसके विपरीत निर्धन को 'येने इवं श्वरिप मन्यते जीवन्तोऽपि मृताइव', निर्धनता घोर दुख और अपमान का कारण है। भाई-बंधु भी जीवित अवस्था में मृत समझते हैं। शूद्रक ने दरिद्रता को जीवन का कठोरतम अभिशाप कहा। 'शुक्रनीति' में गृहस्थ धर्म में धन-संग्रह करने का उल्लेख है—धनोपार्जन करो क्योंकि संसार में धन ही सार है। 'धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम्। शस्त्रास्त्राभ्यां विना शौर्यः गार्हस्थचं लु स्त्रियं विना' (84)। वेदव्यास अंत में कहते हैं, 'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थ न सेव्यते' (स्वर्गारोहण पर्व)। धर्म सभी जीवों को धारण करता है—अर्थ और काम धर्म के अधीन हैं और ये तीनों मोक्ष के अधीन। 'कणिक नीति' में अर्थ का फल धर्म सेवन, भोग और दान कहकर पुरुषार्थ में समन्वय किया है। 'नारद नीति' में धर्म और अर्थ दोनों का सेवन आवश्यक कहा है, दोनों का संबंध है, तीनों पुरुषार्थों का जीवन में उपयोग है—धर्म, अर्थ और काम का। कौटिल्य के अनुसार अर्थ से ही सम्मान प्राप्त होता है। दरिद्रता मरण देती है। अर्थवान कुरूप होने पर भी सुंदर होता है। अकुलीन होने पर कुलीन गिना जाता है। पुराणों में भी अर्थतत्त्व का निदर्शन है। 'कूर्मपुराण' तो धन को प्राण के समान गिनता है। (31 अध्याय)। 'वामन पुराण' का कथन है कि विपुल संपत्ति के होने पर भी निरहंकारी होना चाहिए और धनहीन होने पर निराश न हो। 'धर्माऽस्य मूलं धनमस्थ शाखा पुष्पं च कामं फलमस्य मोक्षः'—चारों पुरुषार्थों में धन वृक्ष की शाखाएं हैं। 'गरुड पुराण' की मान्यता है 'वैश्यो धनं सुखं शूद्रो विष्णु भक्ति समन्वितः' (पूर्व 90, 34.15-159-160)। 'ब्रह्मवैवर्त' में धन के लिए 'नित्य दानं ब्राह्मणोभ्य शरणागत रक्षणम्' (18.8.9) कहा है। महाभारत में अनेक स्थलों पर वेदव्यास ने अर्थ के निमित्त कहा है। उनका एक कथन है—

अर्थेहि प्रबुद्धेभ्यः सम्मतेभ्यस्ततस्ततः।
❑ ❑ ❑
अर्थेन हि विहीनस्य पुरुष स्याल्पमेधसः।

पुनः वे कहते हैं—

अर्थाद्चर्मश्च कामश्च स्वर्गश्च नराधिपः।
प्राणयात्रापि लोकस्य विनाह्यर्थन सिद्ध्यति।।

अर्थरहित प्राणियों का जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। अर्थ से ही तीनों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। 'बुभुक्षितं किं न करोति पापम्'। 'श्रीभागवतपुराण' में अर्थोपार्जन धर्म के लिए ही कहा गया है—'नार्थस्य धर्मेकान्तस्य कामोलाभाय हि स्मृतः (1.2.9)। यही पुराण पुनः कहता है—'अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आया सस्त्रासश्चिन्तः भुमो नृणाम्।'

इसके विपरीत हम अर्थ के दूसरे पक्ष पर भी विचार करें। धन को द्वितीय पुरुषार्थ कहा है, ठीक है, पर क्या येनकेन प्रकारेण धन-संग्रह करना उचित है? भारतीय मनीषा ने जहां धर्म ऐश्वर्य को स्वीकार किया है वहां धर्मविरुद्ध धन की पिपासा को अनुचित और पाप कहा है। इस संबंध में अथर्ववेद का पापलक्षण नाशक सूक्त (7-120) महत्त्वपूर्ण है—'हे पाप लक्ष्मी, यहां से दूर चली जाओ, शत्रु के पास स्थिर हो। यह अलक्ष्मी हमें सुखा रही है। मानव के जन्म के साथ शत लक्ष्मियों ने जन्म लिया है। इनमें जो पापमयी लक्ष्मी है वह सदा-सदा हमसे दूर

रहे, कल्याणकारी हमारे पास आएं। ये पुण्यकारक लक्ष्मियां हमारे पास रहें। हे देव! आप इस पाप लक्ष्मी को दूर करें क्योंकि यह हमें कष्ट दे रही है—यह पापमयी लक्ष्मी व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के पतन का कारण है।'

वरं हालाहलं पीतं सद्यः प्राण हरं विषम्।
न तु पश्येद् धनान्धस्य भ्रूभंग कुटिल मुखम्।।

श्रीकृष्ण ने गीता (16 अध्याय) में आसुरी वृत्ति का लक्षण बताते हुए कहा है—

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् (12)

आसुरी वृत्ति वाले अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करते हैं। वे सोचते हैं—'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्'—मैं आज अपने सब मनोरथ पूर्ण कर लूंगा क्योंकि मेरे पास इतना धन है कि यह सरलता से हो जाएगा। ऐसे पुरुष धन और मान के मद से युक्त होकर पाखंड से शास्त्र-विधि रहित भजन करते हैं क्योंकि वे 'धनमानमदान्विताः' (17) होते हैं। इस प्रकार अनेक चिंताओं से विक्षिप्त, विषय-भोग में आसक्त घृणित कर्मों एवं विषय-भोग से नरकगामी होते हैं। 'विष्णुपुराण' में भोगों की तृष्णा को कभी शांत न होने वाली कहा है, बल्कि वह घृताहुति से अग्नि के समान बढ़ती है। अवस्था के जीर्ण होने पर केश-दंत जीर्ण हो जाते हैं पर जीवन और धन की आशाएं कभी जीर्ण नहीं होतीं।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। (4-10-23)

❑ ❑ ❑

जीर्यन्ति जीर्यतः केशादन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यतः।। (4-10-27)

जहां भी परिग्रह का प्रश्न उठा, हमें सचेत कर दिया गया—'लक्ष्मी स्तोयतोय तरङ्गभङ्ग चपला' लक्ष्मी चंचल है—अस्थिर। शंकराचार्य ने भी बताया—'इह चेद वेत्ति अथ सत्यमस्ति न चेद वेत्ति'। जिन्होंने इस सत्य को समझा, वह मान्य है अन्यथा केवल नाश व विनष्टि। 'अष्टावक्रसंहिता' (14-2) में ऋषि कहते हैं—'क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।' तृष्णा के समाप्त होने पर धन-मित्र-बंधु-बांधव कहां हैं? सत्यव्रत विद्यालंकार कहते हैं—'यह भावना हर मनुष्य के जीवन में किसी न किसी समय साकार होती है। अध्यात्मवादी के जीवन में बहुत पहले और भौतिकवादी के जीवन में बहुत देर के पश्चात्। श्री भागवतकार ने भी चेताया—

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेरऽयः कृताः।।

धन ऐसा है कि एक पैसे के लिए परस्पर प्रेमी, भाई, स्त्री, पिता, सुहृद् के बीच विच्छेद हो जाता है और परस्पर शत्रु बन जाते हैं। इसी से 'विवेक चूड़ामणि' (544) में निर्धन को ही सदा तुष्ट रहना कहा है। ईशावास्य श्रुति की तो प्रसिद्ध ऋचा है 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् धन का उपभोग से अधिक उपयोग करो, त्याग करो, जहां उपभोग है वहां त्याग नहीं। पर धन की आकांक्षा अपकर्म है। पुरुषार्थ से ही धनोपार्जन किया जाए। वह था प्रिजिइया का सम्राट मीडास। उसने डियोनिसस से वर मांगा कि जिस किसी पदार्थ को वह स्पर्श करे, वह स्वर्ण हो जाए। वही हुआ। अभागा सम्राट न तो कुछ खा सका, न कुछ पी सका, क्षुधार्त, तृषार्त वह मरणासन्न हो गया। वर बना अभिशाप। उसने पुनः प्रार्थना की कि यह वरदान नहीं चाहिए और अभिशाप से मुक्त हुआ। आचार्य विनोबा भी कहते हैं कि वर्तमान जीवन-समाज में प्रमुखता है—सत्ता, संपत्ति और स्वार्थ की।

वित्त-प्राप्ति के लिए पाणिवाद का अत्यंत महत्त्व है। परिश्रम से किया हुआ धनोपार्जन ही अभीष्ट है। महर्षि व्यास ने महाभारत में श्रम की महिमा बताई है, जिसे आचार्यों ने 'पाणिवाद' कहा है। व्यास कहते हैं—'जीवन में अनेक व्यक्ति धन की चाह करते हैं, जो पुरुषार्थहीन हैं, मैं उनको स्वीकार नहीं करता। मैं ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा करता हूं जो श्रम से धन कमाते हैं—'अहो सिद्धार्थता तेषां येषां संतीह पाणयः।' व्यास ने प्रज्ञा व बुद्धि को परम लाभ कहा है, 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परोमतः' (शांति पर्व 180-2)। महाभारत में एक कथा है। किसी वैश्य पुत्र ने एक निर्धन मुनि पुत्र का अनादर किया। वह मुनि पुत्र मरने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसी समय इंद्र ने वेश बदलकर परिश्रम-पाणिवाद का उपदेश दिया—

न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चित् विद्यते।
सर्वे लाभाः साभिमानाः इति सत्यवती श्रुतिः।।

यही भारतीय मान्यता है—'यो ये शुचिर्हि स शुचिर्नमृदवारि शुः चितः श्रुति।' सत्मनुष्य सदबुद्धि से ही धन प्राप्त करता है। सत्कर्म, विद्या, विनय और पात्रता से धन-धान्य, तत्पश्चात् 'धनाद् धर्मः ततः सुखम्'। श्रीमद्भागवत में राजा बलि अपने गुरु शुक्राचार्य से यही कहते हैं कि अन्याय, अनुचित रीति, भ्रष्टाचार से धन लेना

वस्तुतः पाप ही है। स्तुति कुसुमांजलि (सर्ग 5) ने बताया कि उग्र कर्मों से धनोपार्जन भी शहद में लिपटा हुआ विष है। मनु भी यही कहते हैं कि तीन व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकते—जो अधर्मी हो, अशुद्ध धनोपार्जन करता हो और हिंसा-लिप्त हो। अशुद्ध धन भी हिंसा है। व्यक्ति को अपने वर्ण आदि की स्थिति के अनुकूल—आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बिना किसी को हानि पहुंचाए अर्थ-संग्रह करना चाहिए। गर्हित कर्म से नहीं, अत्यंत कष्ट के समय पापी लोगों से भी नहीं (आपस्तंब-स्वर्गारोहण 5-62)। विदुर-नीति कहती है—'धनी होकर भी जो गुणवान नहीं हैं उनको त्यागना चाहिए।' वे तो और आगे बढ़ गए। 'प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते' (2-52)। धनिक वर्ग में भोजन करने की शक्ति नहीं होती, वे अत्यंत प्रमत्त होते हैं। लक्ष्मी धीर पुरुष की सेवा करती है 'धीरमत्यन्तं श्रीर्निषिवते' (2-56) और धर्म से च्युत होकर व्यक्ति धन से हाथ धो बैठता है। जहां धनिक व्यक्ति को भोजन करने की शक्ति नहीं रहती, वहां दरिद्र के पेट में काठ भी पच जाते हैं—'जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते' (52)। दरिद्र सदा स्वादिष्ट भोजन करते हैं, क्योंकि क्षुधा भोजन को सुस्वादु बनाती है यह धनिकों को सदा दुर्लभ है।

वेदव्यास ने शांति पर्व (36-36), अनुशासन पर्व (138-5) (138-10), अश्वमेध पर्व (90-97) आदि में अनेक स्थानों पर दान की महिमा बताई है। भागवतकार ने भोजन पर ही अंकुश लगा दिया—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत स्वत्वं हि देहिनाम्।
तनोऽधिकं यो मन्येत सस्तेनो दण्ड मर्हति।।

कबीर की बात 'उदर समाना लेय'। इस संबंध में अथर्ववेद (12.2.51) का मंत्र है—

येऽश्रद्धा धन काम्या क्रव्यादा समासते।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्याद धति सर्वदा।।

अर्थात् जो धन का भी, अश्रद्धालु दूसरों का पका-पकाया अन्न खाते हैं वे क्र-व्याद अग्नि के निकट पहुंच जाते हैं। यदि आज की शब्दावली में कहें तो यही शोषण है। प्रभु धनवानों का सखा नहीं बनता—'न हि रेवन्तं सख्याय विन्दसे।' ईसामसीह ने भी कहा—ऊंट सुई से निकल जाए पर धनवान स्वर्ग में नहीं जा सकता। अर्थ-साधन की लिप्सा से अन्य के स्वत्व अपहरण और शोषण कर मदमत्त हो जाते हैं।

एक ओर धन-अर्थ को पुरुषार्थ गिनना और दूसरी ओर उसकी अवमानना। इस विरोध का समाहार भारतीय मनीषा ने किया है। 'यो ये शुचिर्हि स शुचिन मृद वारि शुः चितः शुचि सन्मनुष्य'—विशुद्ध धन सद्बुद्धि से प्राप्त होता है। सत्कर्म, विद्या, विनय और पात्रता से धनोपार्जन। तत्पश्चात् 'धनाद धर्मः ततः सुखम्।' अर्थ-वृद्धि के उपाय हैं—धृति, चातुर्य, संयम, सद्बुद्धि, श्रम, धैर्य, शौर्य और अप्रमाद। लक्ष्मी कहती है—मैं सद्गुणी के पास ही निवास करती हूं—'वसामि नित्यं सुभगे, प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने। अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीप्त सत्वे।' महाभारत के उद्योग पर्व में कहा गया है—

श्रीर्मंगलादप्रभवति प्रागलभ्यात् सम्प्रवर्धते।
दाक्ष्यान्तु कुरुते मूलं संयमाच्च प्रतिष्ठते।।
(विदुर नीति 13-50)

शुभ कर्मों से श्री की उत्पत्ति होती है, प्रगल्भता से बढ़ती है, चातुर्य से दृढ़ होती है और संयम से सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार इंद्रिय-निग्रह से ऐश्वर्य सुरक्षित रहता है, अन्यथा नहीं। धन का दुरुपयोग उसे नष्ट करता है—'मलोर्थस्य निगूढ़ हनम्' धन-विनाश के 25 कारणों में प्रमुख काम-व्यसन, क्रोध-व्यसन आदि हैं। सदुपयोग के साथ संतोष आवश्यक है। 'संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्' लोभ संतोष का परम शत्रु है। भारतीय मान्यता ने तृष्णा और असंतोष को सदा अस्वीकारा। तुलसीदास ने कहा—

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान।।

'संतोष तुल्यं धनमस्ति नान्यत्'। विदुर भी धृतराष्ट्र से यही कहते हैं—'संतुष्यत्वं तोष परोहि लाभः।' इस संदर्भ में राजा भोज के जीवन की एक घटना का भी उल्लेख उचित है। वे प्रतिदिन अधिक दान देते थे। महामंत्री ने कहा, 'आपदार्थ धनं रक्षेत्।' भोज का प्रत्युत्तर—'श्रीषताम पदं कुतः।' पुनः मंत्री का उत्तर था—'साचेदापगता लक्ष्मी'। भोज का प्रत्युत्तर—'संचियापि विनश्यति'। जब संतोष है तब न कोई धनी है और न दरिद्र। 'चाह गई चिंता मिटी मनुआ बेपरवाह'। स्वामी रामतीर्थ के तो शतरंज के मोहरे भी दुनिया के बादशाह थे। कपिल ब्राह्मण का उदाहरण देकर महावीर ने लोभ कषाय की हानि बताई—असंतोषी सदा भयभीत रहता है पर संतोषी कोई पाप नहीं करता। 'संतोसिणोण पकरेंति पावं' (सूत्र कृताङ्ग 1.12.15)। तृष्णा का अंत नहीं, 'जहा लाहो तहा लोहो, लोह्रे लोहो पवड्ढइ' (उत्तराध्ययन 1-197)। गौतम बुद्ध ने भी कहा, 'सन्तुटवी परमं धनं'। गुरु नानक कहते हैं, 'दइया कपाहु

संतोष सुतु जतु गंडी सत बट' अर्थात् दया कपास है, संतोष सूत, उसकी जनेऊ जीव के लिए है। महात्मा विदुर के अनुसार लक्ष्मी वहीं ठहरती है जहां व्यक्ति मन व इंद्रियों को जीतता है, विवेक से कार्य करता है और परम धैर्यवान है। 'अर्थानामीश्वरो यः स्यादिंद्रियाणामनीश्वरः। इन्द्रियाणां मनैश्चर्या देश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः' (2-61)। जो धन का स्वामी होकर भी इंद्रियों पर अधिकार नहीं रखता, वह ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। गौतम बुद्ध 'बुद्ध मग्गो' (180) में कहते हैं—

यस्स जालिनी विसत्तिका तण्हा नत्थि कुहिचिं नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदंकेन पदे नेस्सथ।।

लोभ और तृष्णा से रहित व्यक्ति कभी विपर्यस्त नहीं होता। मनुष्य के व्यवहार में पवित्रता होनी चाहिए, क्योंकि

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मः ततः सुखम्।।

जो अनर्थ करता है वह कभी सुखी नहीं रह सकता।

आचार्यों ने धन के प्रकार भी बताए हैं। 'गरुड पुराण' के अनुसार तीन प्रकार के धन होते हैं—शुक्ल, शबल और कृष्ण। शुक्ल धन विद्या, शुचिता, दान, तप आदि से होता है। शबल धन कृषि, व्यापार, शिल्प, नौकरी आदि से। कृष्ण धन घूस, चोरी, द्यूतक्रीड़ा, कपट और दैत्य कर्म से। यही धन वर्तमान में कालाधन है, जो त्याज्य और गर्हित है। 'शुद्धि तत्त्व' में अर्थ के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद किए गए हैं। 'शुक्र-नीति' में धन के विविध रूप इस प्रकार हैं—आय पत्र में प्रतिदिन की आय लिखी जाती है। व्यय में खर्च। संचित धन वह है जो प्राचीन आय से आए। संचित धन तीन प्रकार का होता है—(1) स्वामी निश्चित हो (निश्चयात्मक स्वामी), (2) अनिश्चयात्मक स्वामी, (3) स्वत्व निश्चित। धन के तीन अन्य भेद भी हैं—(1) औपनिध्य—अपने पास रख लिया हो, (2) वाचतिक आभूषण आदि, (3) औततमणिक ब्याज के साथ स्वीकार किया गया हो। यह वृद्धि के निमित्त किया जाता है। चाणक्य ने राज-धन के लिए भी नियम निर्धारित किए हैं, जैसे—शैशव, अनाथ बालक की रक्षा, विधवा असहाय नारियों की व्यवस्था, कर निर्धारण के नियम आदि। मनु ने धन के विभाजन-बंटवारा संबंधी नियम भी बनाए हैं। इनमें बहनों को भी (पिता की मृत्यु के अनंतर) धन देने का विधान है। स्त्रीधन के भी नियम हैं और धन के निमित्त भाइयों के पारस्परिक व्यवहार का भी स्पष्ट निर्देश है।

विदुर ने धन-संपत्ति की वृद्धि के भी उपाय बताए हैं—धृति, शम, दम, शौच, करुणा, मृदु वाणी, मित्रों से अद्रोह—ये लक्ष्मी को बढ़ाते हैं। इनके विपरीत आचरण करने वाला दुष्टात्मा, निर्लज्ज और कृतघ्न होता है। क्रोध लक्ष्मी का क्षय करता है। चाणक्य-नीति पुनः कहती है कि संतोष के बराबर सुख नहीं—तृष्णा दुखदाई है, क्रोध यमराज की मूर्ति है। ये तीनों लक्ष्मी का नाश करते हैं। अथर्ववेद (7-118-1) में धन तृष्णा का कुप्रभाव गिना है—लोभमय, विष-लता की भांति स्नेह-संबंधों को काट देती है 'तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव' (7-118-7)। इसी से बार-बार हमें सचेत किया गया है कि किसी के धन पर मत ललचाओ। निकृष्ट लोग धन, मध्यम धन और मान, उत्तम केवल मान चाहते हैं। निर्धन व्यक्ति छोटा नहीं है, अपने निश्चय पर दृढ़ रहना ही धन है, विद्या रूपी धन से हीन सब प्रकार से हीन है। विद्या ही परम धन है। अथर्ववेद (7.115.4) में बताया है—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।

पापमई अलक्ष्मी हमसे दूर रहे और पुण्य कारक हमारे पास। विष्णुपुराण में भी कहा है—'जो सभी प्राणियों को मैत्रीभाव से देखता है, लोभादि से रहित है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, चरित्र उच्च है, मिथ्याभिमान से हीन, उसी के पास लक्ष्मी स्थिर रहती है। अर्थोपासक सुकर्मों में श्रम न करे तो वह अन्याय है।'

अर्थ तत्त्व पर श्रमण संस्कृति में भी प्रचुर विचार किया गया है। 'धम्म पद' में बुद्ध कहते हैं—धीरोच दानं अनुमोदमानो तेनेव सो होत्तिवि सुखी परत्थ (लोक वग्गो)। धीर व्यक्ति दान के द्वारा परलोक में सुफल पाते हैं। पुनः 'दान दम संयमेना सत्त्वार्थ हितार्थ मित्रार्थ'। बुद्ध ने कहा कि धन को अपना समझना मूर्खता है। उन्होंने 'धम्म पद' में बताया 'न अत्तहेतु न परस्सहेतु, न पुत्रमिच्छे न धनं न रहं (पंडित वग्गो-84)। न अपने लिए, न औरों के लिए, न पुत्र के लिए किसी के लिए धन की आकांक्षा मत करो।' आदित्त जातक में उल्लेख है—

अद्धा हिदानं बहुधा पसत्थ।
दाना च खो धम्मपदं चसेय्यो।।

दान प्रशंसनीय है पर उससे धर्माचरण श्रेष्ठ है। पुनः सेदि जातक लिखता है—'सतंच धम्मो चरितो पुराणो इच्चेव दाने रमते मनोमय' दान देने में आनंद आता है न यश, न पुत्र, धन तथा राष्ट्र की इच्छा हो।

संयुत्त निकाय (1.1.32) में 'अप्पस्मा दक्खिणा दिन्ना राहस्सेन समंमिता' अल्प में से यथा दान वह सहस्र दान के बराबर है। यही विभानवत्थु (1.48.804) में भी कहा गया है। दान अगले जन्म में सुफलकारक है। (अदित्त जातक) मात्सर्य व प्रमाद से दान नहीं देना चाहिए। जैन धर्म तो धन के अभिशाप से भरा पड़ा है—उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, भगवती आराधना आदि में महावीर ने चेताया—

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणन्तं मोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव।
(उत्तराध्ययन 4-5)

जैनधर्म परिग्रह को आस्रव कर्म बंध का प्रमुख हेतु गिनता है। 'वज्जालग्ग' एवं अन्य जैन ग्रंथों में भी कहा है कि दरिद्रता विद्वान, गुणवान एवं स्वाभिमानी पर ही अनुरक्त होती है।

'वज्जालग्ग' कहता है जो वैभवरूपी वात व्याधि से मग्न होकर टेढ़ा चलते हैं, वे दारिद्र्यरूपी ओषधि से सीधे हो जाते हैं (14.5)। 'अत्थो मूलं अणत्थाणं' अर्थात् अर्थ तो अनर्थ का मूल है। धन संग्रह से भरी हुई नौका के समान शीघ्र ही भवो भव में डूबता है। जैन धर्म में अर्थ संग्रह को परिग्रह के अंतर्गत गिना है। श्रावक धर्म में अणुव्रत के लक्षण में कहा गया है—'जो लोभ कषाय को कम करके संतोषरूपी रसायन से संतुष्ट होता है और दुष्ट तृष्णा का परित्याग करता है एवं आवश्यकतानुसार धन-धान्य, सुवर्ण का संग्रह करता है वह पांचवां अणुव्रत है। जैन धर्म में परिग्रह, त्याग की महत्ता भी सर्वभावेन निदर्शित है। यह परिग्रह अंतरंग और बाह्य दोनों होता है। परिग्रह से व्यक्ति अर्जन, रक्षण और नाश के अनेक दोषों को प्राप्त होता है और चारों से पराभूत होता है, जैसे ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती—वह लोभातिरेक के कारण विवेक नहीं रख सकता और लोक में तिरस्कार प्राप्त करता है। हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास-दासी ये परिग्रह के अतिचार हैं। आगमों में अनेक प्रकार से परिग्रह-संग्रह-तृष्णा धन-संपत्ति आदि का निरूपण मिलता है। उत्तराध्ययन (9-48) में महावीर कहते हैं, 'सोने और चांदी के कैलास पर्वत के तुल्य असंख्य पर्वत हों फिर भी लोभी मनुष्य को तृप्ति नहीं होगी, क्योंकि उसकी तृष्णा अनंत होती है।' यही बात 'दिव्यावदान' में भी कही गई है—

पर्वतो सुवर्णस्य समो हिमवता भवेत्।
नालं एकस्य तद् वित्तं इति विद्वान् समाचरेत।।
(पृ. 224)

उत्तराध्ययन (8-16-17) में तो स्पष्ट कहा है—'कसिणं पि जो इमं लोयं पडि पुण्णं दलेज्ज इक्कस तेणावि से न संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया।'

श्रमण संस्कृति में एक अन्य पक्ष दान है। 'दानकुलम्' में दान के अनेक रूपों का वर्णन है 'वाणं दाणं गुण गणाणं' (3)। 'रयणसार' (11) में भी दान को सद्गृहस्थ का धर्म बताया है। 'दाणं मुक्खं सावय धम्मे'। दान के द्वारा कीर्ति बढ़ती है 'दाणेण फुरइ कित्ती', 'दाणेण होइ निम्मलाकंती' (दान कुलम 4)। सूत्र कृतांग (1, 6, 23) के अनुसार 'दाणाणं सेटढं अभयप्पमाणं' दान में अभयदान श्रेष्ठ है। दशवैकालिक (5.1) में निस्वार्थ दाता और निस्वार्थ जीवन जीने वाला दोनों दुर्लभ हैं। 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' (13) में कहा है कि जो लक्ष्मी का संचय करता है, दान नहीं देता, वह अपनी आत्मा को ठगता है और उसका मनुष्य होना वृथा है। दयालुता से दान देना ही लक्ष्मी की सार्थकता है (वही, 12)। आहार, औषध, शास्त्र और अभय—ये चार प्रकार के दान हैं पर अपात्र को दिया गया दान फलरहित होता है। करुणा को भी 'वसुनन्दि श्रावकाचार' (235) में दान कहा है। 'दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो लोभाच्च नान्योऽस्ति परः प्रथिव्याम्। विभूषणं शील समं च चान्यत्, संतोष तुल्यं धनमस्ति नान्यम्'। 'कातिकियानुप्रेक्षा' (14) में कहा है कि जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके पृथ्वी में गाड़ देता है, वह उस लक्ष्मी को पत्थर के तुल्य कर देता है। अर्थ-संग्रह करके मनुष्य संसार में अपने प्रति वैर-भाव ही बढ़ाते हैं। 'विसुद्धिमग्ग' (4-39) में स्पष्ट कहा है—'अदन्त दमनं दानं, दानं सव्वत्थ साधकं।' दान अदांत का दमन करने वाला तथा सर्वार्थ साधक है। बुद्ध का पुनः कथन है—'दिन्न होति सुनीहितं'। भारतीय मनीषा ने, सभी धर्मों और आचार्यों ने दान की महत्ता बताई है। दान की परिभाषा है—'स्वपरानुग्रहार्थ मर्दिने दीयत इति दानम्'। सूत्रकृताङ्ग (1-11) 'कल्पसुधा बोध टीका' के अनुसार (5) 'याचकाभीप्सार्थ धने'। दान को 'अशनादि प्रदाने' कहा गया है। 'अभिदान राजेंद्र' में दान के तीन भेद किए गए हैं—ज्ञान, अभय, धर्मोपग्रह। ज्ञान सर्वोत्तम दान है, विद्या दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है। 'शुद्धि तत्त्व' के अनुसार—

अर्थाना मुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
दानत्यिभि निर्दिष्टं व्याख्यानं त।

❑ ❑ ❑

दाता प्रतिग्रहीता च श्रद्धा देयं च धर्म युक (217)

उमा स्वाति कहते हैं—'विधि द्रव्यदातृ पात्र विशेषात् तद्विशेषः' (तत्त्वार्थ सूत्र 34)। दान से सामान्य और विशेष

दोनों प्रकार के फल होते हैं। द्रव्य शुद्ध से, दातृ शुद्ध से, तपस्वी शुद्ध से, त्रिकरण शुद्ध से, पात्र शुद्ध से दान की विशेषता होती है। जैन संस्कृति में दान के प्रमुख भेद आहार, औषध, अभय और ज्ञान हैं। इनमें अभय दान ही श्रेष्ठ है। दान में अहंकार और लोकैषणा आदि की भावना नहीं होनी चाहिए और न्याय से उपार्जित साधनों का उचित संविभाग करके दान देना चाहिए। दाता, द्रव्य, दान विधि और पात्र इन चारों से ही दान का विशेष फल होता है। 'अनुग्रहार्थ स्व स्वातिसर्गो दानम्। स्वपरोपकारोऽनुग्रहः'। स्वयं अपना एवं दूसरों के उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग दान है। दान में दूसरे के उपकार की भावना विद्यमान रहती है। लक्ष्मी पानी में उठने वाली लहर के सदृश चंचल है। तब दयालु होकर दान दो। जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करता है, वह अपनी आत्मा को ठगता है और उसका मनुष्य जन्म लेना वृथा है। दान पाप धर्म है (जैनेंद्र सिद्धांत कोष के आधार पर)। दानांतराय कर्म है जब दान की सामग्री, उत्तम पात्र और अवसर हो, फिर दान का सुफल जानते हुए भी दान न दे तो यह होता है। तत्त्वार्थ सूत्र (9-13) अन्नं दानं च वस्त्रं च आलय शयनासनम्। शुश्रूषा वंदनं तुष्टिः पुण्यं नव विधं स्मृतम् (स्थानांग)। यही प्रश्न व्याकरण (2-4) में भी कहा है—'दाणाणं चैव अभयदाणं'। स्थानांग में दानी के चार भेद बताए हैं—मेघावत् जो बोलते हैं पर देते नहीं, कुछ देते हैं पर बोलते नहीं, कुछ बोलते हैं और देते हैं, कुछ न देते हैं और न बोलते हैं। (4-4)।

भारतीय संस्कृति में दान की सर्वश्रेष्ठता वैदिक काल से ही प्रमाणित है। ऋग्वेद का 'दान सूक्त' प्रसिद्ध है। इसमें कहा गया है कि दान देने वाले को धन की कमी नहीं होती। न देने वाले को कोई सुखी नहीं कर सकता। जिनका हृदय अनुदार है, उनका धन निरर्थक है। इसके साथ-साथ यह भी कहता है कि धन-संपदा वालों की श्रृंखला बनी हुई है। अल्प संपदा वाले अधिक धनवान बनने का प्रयास करते हैं। स्वयं लाभ उठाने की प्रवृत्ति अनेक व्यसनों को पनपाती है।

य इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामा चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्
(10-117-3)

जो क्षुधार्त की क्षुधा मिटाते हैं, वे सचमुच दाता हैं और उन्हें संपूर्ण यज्ञों की प्राप्ति होती है। ऋग्वेद के इसी 'दान सूक्त' में अन्न दान का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए ऋषि कहते हैं—'समर्थ मनुष्य को चाहिए कि याचना भाव से आने वाले को निश्चय ही धनादि दान द्वारा संतुष्ट करे। ऐसे दाता स्वर्गीय सुपथ प्राप्त करते हैं। जिनका हृदय उदारता से रहित है, उनका अन्न-धन निरर्थक है। उनका अन्न मृत्यु के सदृश विषैला है। ऐसे व्यक्ति का गृह निवास करने योग्य नहीं है। जो स्वयंमेव खाते हैं, वे पापान्न ही ग्रहण करते हैं। पुनः कहा है—'दक्षिणावन्तोऽमतं भजन्ते'। अथर्ववेद (9.18.1) में कृपणता को दूर हटाने की प्रार्थना है। ऋग्वेद (10.11.76) 'मोघामन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यंब्रवीमि वध इत्सतस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाधो भवति केवलादि।' संकीर्ण हृदय वालों का धन पाना निरर्थक है। उनका अन्न मृत्यु के समान विषैला है, जो स्वयं खाते हैं वे पापान्न ही ग्रहण करते हैं। इसी वेद में पुनः कहा है—

न वऽदैवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुद
उतो रयिः पृणतोनोयदस्यत्युता प्रणन्मनेऽतारं न विन्दते।
(द्रष्टव्यः 10.117.4-5 आदि)

जिनका हृदय उदारता-रहित है, उनका अन्न-धन पाना निरर्थक है। पुनः (7-32-18 में) कहा है—

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय।
स्तोतारमिद्दिधिषये रदावसो न पापत्वाय रासीय।

अर्थात् हे इंद्र देव! आप स्तोताओं को धन प्रदान करें। पापियों को नहीं। 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर' (अथर्ववेद 3-24-5)। यही वेद आगे कहता है (13-1-59)—

मा प्रगाम यथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनःमान्तस्थुर्नो
अरायतः।

'हे इंद्र! हम श्रेष्ठ मार्ग का कभी परित्याग न करें। हम सोमयाग से कभी दूर न हों।' उपनिषदों में दान की महिमा वर्णित है। छांदोग्य (2.23.1) में कहा है—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति'। दान धर्म का प्रथम सोपान है। याज्ञवल्क्य ने दान को नियम के विशिष्ट अंग के रूप में अभिहित किया है—'तपः दानमीश्वरपूजनम्... व्रतम्' (यो.या. 2.1)। पुनः छांदोग्य (3.17.4) में 'अथ यत्तपोदानमार्जवमहिंसा, सत्य वचनमिति ता अस्य दक्षिणाः' जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य वचन में जीवनयापन करता है, उसका जीवन मानो दक्षिणा का जीवन है। वृहदारण्यक (5.2.1.3) में 'द' को मनुष्य के लिए ब्रह्मा ने कहा है—'होचुर्दयध्वमिति' दान करो। 'शिक्षेद्दमं दानं दया मिति'। तैत्तिरीय (1.11.3) में ऋषि कहते हैं—'श्रद्धया देयम्-अश्रयादेयम, श्रियादेयम हिलयादेयम्'—श्रद्धा-अश्रद्धा दोनों से देना। अपनी बुद्धि 'श्री' से देना—वृद्धि में श्री न हो तो भी देना, भय से भी देना, लोकलाज से भी देना। श्री गीता में (18-5) दान को पवित्र वस्तुओं में अन्यतम कहा है—'यज्ञ-दान-तपः कर्म न

त्याज्यं'। पुनः (17-20) में कथन है—'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे'। दान देना कर्तव्य है—देश-काल-पात्र के प्राप्त होने पर दान देना चाहिए, जिसके पास जिसका अभाव हो, सात्त्विक दान देना परम कर्तव्य है, किंतु जो दान क्लेश से दिया जाता है तथा प्रत्युपकार एवं फल की प्राप्ति के लिए दिया जाता है वह 'तद्दानं राजसं स्मृतम्' अर्थात् राजस दान है। जो दान अयोग्य-तिरस्कृत कुपात्र को दिया जाए वह दान तामस है 'तत्तामसमुदाहृतम्।

श्रीमद्भागवत में (7-14-8) में धन के दुरुपयोग का निषेध किया गया है और संयम के साथ उसका लोकोपकार के लिए व्यय करना उचित ठहराया गया है। यही तथ्य गीता (3-13) में भी स्पष्ट है—'जो शरीर-पोषण के लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पापी हैं'। जो केवल भोग-विलास में खर्च करते हैं, वे चोर हैं। श्रीगीता में यही कहा गया है—'यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः' (3-12)। श्रीगीता में (16-16) श्री कृष्ण का कथन है, 'मैं धनवान हूं, परिवार वाला हूं, मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, आमोद-प्रमोद करूंगा, इस अज्ञान से मोहित व्यक्ति असुर है और मोह में समावृत।' धन-मान के भेद से युक्त व्यक्ति पाखंडी है। पुनः (17-18) में बिना श्रद्धा के दिए हुए दान को भी असत् कहा है। ऋग्वेद में तो देवता और ऋषियों को 'भिक्षु' कहा गया है (10.117)। महाभारत में 'नास्ति यज्ञ समं दानं।' कहकर 'यथार्थ विद्धि...लोकानां हित कामया' कहा गया है, अर्थात् कर्तव्य से दान करने पर ममत्व का निषेध होता है।

मनु ने दान को (1.86) 'तपः परं...दानमेकं कलौ युगे' कहा है—कलिकाल में वही एकमात्र धर्म है। महाभारत में (शांति पर्व 26-9) 'दानमध्ययनं यज्ञो निग्रह इ चैव दुर्ग्रहः' दान को तपस्या के सदृश कहा है। इसी में आगे कहा गया है—'ये स्व धमदि पेतेभ्य' दान न देना और कुपात्र को देना, दोनों अनुचित हैं। 'अनहर्ते...पात्रे वा प्रतिपादनम्... जारश्चोरश्य...वर्जिताः'। अनुशासन पर्व में पुनः कहा है—'नियमित दान देते रहना चाहिए।' धन को तीन भागों में विभक्त करना उचित है—धर्म, अर्थ और काम। अर्थ में दान देना अति आवश्यक है। महाभारत के व्यास का प्रसिद्ध कथन है—'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थेन सेव्यते'। वामन पुराण में कहा है—

वृथाटनं वृथा दानं वृथा च पशु मारणम्।
न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथा दारपरिग्रहम्।।

अर्थात् वृथा दान से धन का क्षय होता है—वृथा अटन से चरित्र भ्रष्ट और वृथा पशु-घात पाप कर्म है। क्रोधी व्यक्ति दान से भी फल प्राप्त नहीं करता। सदाचार है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, शांति, शम, कर्मण्यता, शौच, तप। पद्मपुराण में 'नास्त्यहिंसा समं दानं' अहिंसा ही परमदान है। अन्नदानं महादानं विद्यादानं महत्तरम् (नीतिकार)।

पुनः याज्ञवल्क्य स्मृति कहती है—

देशेकाले उपायेन द्रव्य श्रद्धा समन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत् तत् सकलं धर्म लक्षणम्।।

विष्णुपुराण (2-8-80) में कहा है—

तदा दानानि देयानि देवेभ्यः प्रयतात्मभिः।
ब्राह्मणेभ्यः पितृभ्यश्च मुखमेतत्तु दानजम्।।

विषुव नामक पवित्र काल में देवता, ब्राह्मण और पितृगण के उद्देश्य से संयत होकर दान देना चाहिए। इस समय दान ग्रहण के लिए देवताओं के मुख खुले रहते हैं। अतः विषुव काल में दान करने वाला मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। विषुव काल से तात्पर्य है—सूर्य विशाखा के तृतीय भाग में अर्थात् तुला के अंतिमांश का भोग करते हों और चंद्रमा कृत्तिका के प्रथम भाग अर्थात् मेषांत में स्थित जान पड़े वह 'विषुव काल' है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में 'नित्यं दानं ब्राह्मणेभ्यं शरणागत रक्षणम्' (18.8.9) कहा है। गरुड़ में 'वैश्यो धनं सुखं' कहकर धन को सुख का कारण लोकोपकार में गिना है। 'मार्कंडेय' में यज्ञ, दान और तप को सदाचार का लक्षण कहा है।

भर्तृहरि ने धन के तीन मार्ग—दान, भोग और नाश कहा है। प्रथम दो के नहीं करने से तीसरा अवश्यंभावी है 'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य'। भर्तृहरि आगे कहते हैं—विद्या, तप और दान से हीन व्यक्ति पशु है। शुक्र नीति में दान के रूप इस प्रकार हैं—पारितोषिक, (श्री दत्त) परलोक के निमित्त, संविद दत्त, ही दत्त, लज्जा दत्त, भय दत्त, पाप दत्त। इनमें देवता, यज्ञ, ब्राह्मण, धेनु को दिया गया दान परम लाभप्रद है। जो मनुष्य दान से हीन होता है, फिर बढ़ने का प्रयास करता है, वह चंद्रमा के सदृश पुनः वृद्धि लाभ करता है। दान की सार्थकता इस प्रकार है—(1) धन न्यायानुसार अर्जित हो, (2) दान में श्रद्धा-भाव होना चाहिए अश्रद्धा हो पर विरक्ति नहीं, (3) सामर्थ्यानुसार दान करे, (4) अहंकार से, गर्व और यश प्राप्ति के कारण न करके कर्तव्य और विनम्रता से करे, (5) वर्ग, ऊंच, नीच आदि का भेद न रखे, (6) अनधिकारी को न दे। दान दरिद्र को दे, धनिकों को नहीं। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं—'कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।

व्याधितस्योषधं पथ्यः नीरुजस्य किमौषधैः।' हे युधिष्ठिर! दान दरिद्र को दो, धनी को नहीं, ओषधि उसी को दी जाती है, जो रुग्ण है, नीरोग को नहीं।

आचार्यों ने बताया 'यद्दाति यदश्नाति तदेवधनि नां धनम्।' उतना ही धन अपना समझा जाए, जो दान में दिया जाता है। तुलसी ने बताया—

तुलसी कर पर करकरो कर तर कर न करो।
जा दिन कर तर कर करो ता दिन डूब मरो।

उन्होंने तो याचक के लिए कहा कि—वे नर मर गए हैं जो 'कहीं मांगन जाहिं', पर उनसे पहल वे नर मर चुके 'जिन मुख निकसत नाहिं'। रहीम की बात है—'रहिमन याचकता गहे बड़ो छोट ह्वै जात' और तो और ईश्वर भी 'मांगन जाय गयो बलि के तब बावन अंगुर हो गयो छोटो।' 'शुक्र नीति' तो माता-पिता से भी याचना करना अनुचित ठहराती है। 'पंचतंत्र' दान को धन की सुरक्षा का सर्वोत्तम साधन बताता है—

उपार्जितानामर्थानां त्याग एवं हिरक्षणम्।
तडा गोदर संस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्।
(पंचतंत्र 12-155)

अत्रि संहिता में 'नास्ति दानात्परं मित्रमिहलोके परत्रच।' अन्यत्र कहा है—

दानामृतं यस्य करारविन्दे, वाचामृतं यस्य मुखारविन्दे।
दयामृतं यस्य मनोऽरविन्दे त्रिलोक वन्धयोहि नरो वरोऽसौ।

स्वामी करपात्रीजी ने बताया कि रामराज्य में वैयक्तिक संपत्ति के होते हुए भी अतिरिक्त का बंटवारा पांच भागों में होता था—'धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च। पंचधा विभजन् विति मुहामुत्र च मोदते'। धन का सदुपयोग लोक-संपादन के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत संपत्ति और स्वत्व सात प्रकार का होता है—दाय, लाभ, विजय, अर्जन, पुरस्कार, निधि व सूद। मरने पर पिता 'संपत्ति कर्म' करता है—'त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञः त्वं लोकः' पुत्र उत्तर देता है—'अहं ब्रह्म, अहं यज्ञः अहं लोकः'।

अन्य धर्मों में भी दान की महत्ता प्रतिपादित है। हजरत मुहम्मद ने जकात-खैरात आवश्यक गिने। आय का आठवां भाग दान में दिया जाए। यहूदी मान्यता है कि यदि शत्रु भूखा है तो अपने से पहले उसे रोटी दो। ईसाई धर्म में बताया कि पृथ्वी पर धन का संचय न करो, कीड़े खाएंगे, चोर ले जाएंगे, स्वर्ग में धन संचय करो। 'दाहिना हाथ जो दे, उसे बायां हाथ न जाने'। गुप्त दान श्रेष्ठ है। ईश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं हो सकती। ईसा कहते हैं कि प्रत्येक दान ईश्वर से आता है। भारतीय वाङ्मय में कर्ण की दानशीलता अनुपम है, जिसने मरणासन्न अवस्था में भी अपना स्वर्ण दंत ब्राह्मण को दान में दे दिया था और इसके पूर्व छद्म वेशधारी इंद्र को अपना अमोघ कवच-कुंडल। महाराज रघु और हर्ष ने अपना सर्वस्व दान कर दिया। वसिष्ठ ने हड्डी चाटते हुए राजा श्वेत से कहा कि भूखा होने पर भी हे राजन! मैं आपके लिए क्या कर सकता हूं (वराहपुराण 139)। भगवान श्रीराम के लिए तो प्रसिद्ध है कि एक बार में जितना दान दिया, फिर याचक को कभी मांगना नहीं पड़ा। योगवासिष्ठ (निर्वाण प्रकरण पू.) में भगीरथ राजा के त्याग का वर्णन है। वसिष्ठ कहते हैं कि राजा भगीरथ से याचकगण अपने संकल्प के अनुसार अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते थे और वह श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के लिए निरंतर धन देता था, वह दान देने में चिंतामणि के समान था और एक दिन सर्वस्व त्याग कर ब्राह्मणों, बंधुओं को गौ, पृथ्वी, घोड़े, स्वर्ण आदि समस्त धन दे दिया। दधीचि का दान और त्याग तो विदित है ही, भारतीय वांग्मय में ऐसे अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

वर्तमान अपसंस्कृति में मनुष्य सर्वतोभावेन अर्थ का दास है। आज अमेरिका जैसे देशों में एक व्याधि व्याप्त है जिसे 'ट्रिगली साइकिल सिन्ड्रोम' कहते हैं इसका तात्पर्य है येन-केन-प्रकारेण अर्थ संग्रह करना। नैतिक मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं। एक नया वर्ग शोषक और शोषित के मध्य आ गया है। इसी से वहां का सिद्ध वाक्य है 'धन ही संस्कृति है' (केपीटल इज कल्चर)। जो जितना अर्थसंपन्न है, उतना ही वह सुसंस्कृत है। कुछ दिनों पूर्व एलविन टाफलर ने 'पावर शिफ्ट' में लिखा था कि '21वीं सदी का प्रारंभ होगा तब तकनीकी और वैज्ञानिक संस्कृति के नए क्षितिज खुलेंगे। संपत्ति, सत्ता और शक्ति उसके महत्त्वपूर्ण अंग होंगे। जिसकी मंजूषा भारी-भरकम होगी, वही सर्वेसर्वा होगा। स्पर्द्धा नैतिक मूल्यों की नहीं, अर्थ और संपत्ति की अधिकता से होगी। समाज और शासन उसी के अधीन होंगे। इससे वह दंड दे सकेगा, सम्मान और पुरस्कार भी एवं स्वयं सम्मानित होगा। ऐसा होगा 21वीं सदी का प्रारंभ'। इस संदर्भ में मुझे अंग्रेजी का एक उद्धरण याद हो आया—"our ladies laugh at hare baced trulls, when they have those mufflers on which they call masks, and which were formely much more properly called

शेष पृष्ठ 54 पर

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और उसका अनेक संदर्भों में प्रयोग भी होता है। काव्यानुशासन आदि साहित्य के लाक्षणिक ग्रंथों में उसका बहुत सुंदर विवेचन मिलता है। यदि भोजन करते समय कोई आदमी कहे कि 'सैंधव लाओ' तो वहां एक समयज्ञ व्यक्ति सैंधव-घोड़ा लाकर खड़ा नहीं करेगा, किंतु वह सैंधव-नमक ही लाकर देगा।

मांसाहार : एक विवेचना

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

दिल्ली विश्व-विद्यालय के प्रो. डी. एन. झा द्वारा लिखित 'होली काउ-बीफ इन इंडियन डाइटरिकंडीशंस' पुस्तक में अनेक धर्मों के प्रमुख महापुरुषों का आहार संबंधी विवरण दिया गया है। भगवान महावीर के मांसाहार का भी उसमें उल्लेख किया गया है। कुछ पुस्तकों के आधार पर भगवान महावीर के मांसाहार की उन्होंने धारणा बना ली और अपनी पुस्तक में उसका उल्लेख भी कर दिया। शोधपूर्ण प्रामाणिक इतिहास का यह तरीका नहीं है। पुस्तक के लेखक को मूल प्रामाणिक स्रोतों से सही तथ्य को जानना चाहिए। सही जानकारी के बाद वे यदि कुछ लिखते तो अहेतुक विवाद खड़ा नहीं होता।

संदर्भ है भगवान महावीर की जयंती का और उसके साथ घोषित हुआ है यह 'अहिंसा वर्ष'। हमारा कर्तव्य है कि हम इस अप्रिय घटना का अहिंसात्मक प्रतिवाद करें। प्रतिवाद करने की आज की हिंसात्मक या उत्तेजनात्मक शैली हमारे लिए उचित नहीं होगी। सही तथ्यों की जानकारी कराने पर विद्वान लेखक पुस्तक को वापस ले लेता है तो अच्छी बात। यदि नहीं लेता है तो फिर इसके विषय में उचित कार्यवाही के बारे में सोचा जाना चाहिए।

भगवान महावीर के मांसाहार की भ्रांति का कारण भगवती का एक प्रसंग है। मंखलिपुत्र गोशालक द्वारा तेजोलब्धि का प्रयोग करने पर भगवान का शरीर पित्तज्वर और दाह से आक्रांत हो गया। (भगवई 15/146)

भगवान के शिष्य सिंह मुनि को उस घटना से बहुत चिंता हुई। उनकी चिंता को समाहित करने के लिए भगवान ने उनसे कहा—'सिंह! तुम रेवती के घर जाओ। उसने मेरे लिए दो कपोत शरीर पकाए हैं। उन्हें मत लाना। पारिवासित और मार्जार से भावित कुक्कुट मांस ले आना—'तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेंढियग्रामं नगरं, रेवतीए गाहावतिणीए गिहं, तत्थ णं रेवतीए गाहावतिणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से पारियासिए मज्जार कडए कुक्कुडमंसए, तमाहराहि, एएणं अट्ठो!' (भगवई 15/152)

उक्त प्रसंग में तीन शब्द विमर्शनीय हैं—कपोत शरीर, मार्जार और कुक्कुट मांस। शब्दार्थ पर विचार करने से पूर्व देश, काल और संदर्भ—इन तीनों पर भी विचार करना आवश्यक है। चिकित्सा के संदर्भ में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का अर्थ चिकित्साशास्त्र में खोजना चाहिए।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और उसका अनेक संदर्भों में प्रयोग भी होता है। काव्यानुशासन आदि साहित्य के लाक्षणिक ग्रंथों में उसका बहुत सुंदर विवेचन मिलता है। यदि भोजन करते समय कोई आदमी कहे कि 'सैंधव लाओ' तो वहां एक समयज्ञ व्यक्ति सैंधव-घोड़ा लाकर खड़ा नहीं करेगा, किंतु वह सैंधव-नमक ही लाकर देगा। चिकित्सा के संदर्भ में विचार करते समय आयुर्वेद में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों पर ध्यान देना आवश्यक है। अब हम प्रयुक्त शब्दों पर विचार करें—

कपोत शरीर

संस्कृत शब्दकोश के अनुसार 'कपोत' कबूतर का वाचक है। आयुर्वेदीय शब्दकोश के अनुसार कपोत का एक पर्यायवाची नाम पारावत है। पारावत के फल कबूतर के अंडों के समान होते हैं। पारावतपदी आयुर्वेद में काकजंघा को कहते हैं। धन्वन्तरि निघण्टु (पृ. 189) में काकजंघा को काकमाची विशेष माना है। काकमाची शब्द मकोय शाक का वाचक है।

सारामलकः सारफलो रसालश्च पारावतः।।(325)
कपोताण्डोपमफलो, महापारावतोऽपरः।।
(कैयदेव निघण्टु औषधिवर्ग पृ. 62)

काकजंघा ध्वंक्षजंघा, काकपादा तु लोमशा।
पारावतपदी दासी, नदीक्रांता प्रचीबला।।
(धन्वन्तरि निघण्टु 4/20 पृ. 186)

वनस्पतिशास्त्र में कपोता, कपोती, कपोतवेगा, कपोतवल्ली जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है—

कपोता, कपोती—सर्पाक्ष्यादिगणे रसौषधिविशेषः।

कपोतवेगा—ब्राह्मी

कपोतवल्ली—सूक्ष्मैला (द्रव्यगुणकोषः पृ. 39)

वनस्पतिशास्त्र में पारावतपदी का प्रयोग काकजंघा, ज्योतिष्मती और हंसपदी भेद के लिए हुआ है (द्रव्यगुणकोषः पृ.112)। भावप्रकाश निघण्टु के अनेकार्थ नामवर्ग में भी इसका प्रयोग ज्योतिष्मती (मालकांगनी) के लिए हुआ है (भाव प्रकाश निघण्टु पृ. 799)।

उसके अनुसार पारावतपदी काकजंघा—मकोय विषमज्वर नाशक, कफपित्तशामक, चर्मरोग नाशक है।

काकजंघा हिमा तिक्ता कषाया कफपित्तजित्।
निहंति ज्वरपित्तास्रवणकण्डूविषक्रिमीन्।।
(भावप्रकाश निघण्टु पृ. 441)

आगम साहित्य में वनस्पति के साथ शरीर शब्द का प्रयोग किया जाता है—पुढवी सरीरं, आउ सरीरं, तेउ सरीरं, वाउ सरीरं, वणस्सइ सरीरं (सूयगडो 2/3/36)।

मार्जार

संस्कृत शब्दकोश के अनुसार 'मार्जार' बिल्ली का वाचक है। आयुर्वेदीय शब्दकोश के अनुसार 'मार्जार' चित्रक का वाचक है।

कालो व्यालः कालमूलोऽपि दीप्यो,
मार्जारोग्निदाहकः पावकश्च।
चित्रांगोऽयं रक्तचित्रो महांगः,
स्यद्रुदाह्नश्चित्रकोन्यो गुणाढ्यः।।
(राज निघण्टु वर्ग 6/46 पृ. 143)

आयुर्वेद में चित्रकमूल का प्रयोग सतत ज्वर में किया जाता है।

कुक्कुट

संस्कृत शब्दकोश के अनुसार 'कुक्कुट' मुर्गे का वाचक है। आयुर्वेदीय शब्दकोश के अनुसार 'कुक्कुट' शितिवार (चोपतिया शाक) का वाचक है—

शितिवारः शितिवरः स्वस्तिकः सुनिषण्णकः।
श्रीवारकः सूचिपत्रः पर्णकः कुक्कुटः शिखी।।
(भावप्रकाश निघण्टु शाकवर्ग पृ. 673, 674)

वनस्पतिशास्त्र में शितिवार के लिए कुक्कुट का प्रयोग हुआ है—कुक्कुटः शितिवारः मुर्गा इति लोके। कुक्कुटचूड़ावत पुष्पव्यूहत्वात्।

(द्रव्यगुणकोषः पृ. 43, धन्वन्तरि निघण्टु 1/155)

शितिवार का प्रयोग दीपन और अग्निमांद्य को दूर करने के लिए किया जाता है। इसका शाक त्रिदोषघ्न और ज्वरनाशक है।

मांस

आयुर्वेदीय ग्रंथों में छाल के लिए त्वचा और गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग किया जाता है। अष्टांग संग्रह में भिलावे के गूदे के लिए मांस का प्रयोग किया गया है—

भल्लातकस्य त्वग् मांसं
बृंहणं स्वादु शीतलम्।। (अष्टांग संग्रह 8/168)

आयुर्वेदीय ग्रंथों में गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग अपवादस्वरूप नहीं है। यह एक वनस्पतिशास्त्रीय सामान्य प्रयोग है।

कैयदेव निघण्टु में भी गूदे के लिए मांस शब्द का प्रयोग मिलता है—

उष्णवातकफश्वासकासतृष्णावमिप्रणुत।
तस्य त्वक् कटु तिक्तोष्णा, गुर्वी स्निग्धा च दुर्जरा।।

कृमि श्लेष्मनिलहरः मांसं स्वादु हिमं गुरु।
बृंहणं श्लेष्मलं स्निग्धं पित्तमारुतनाशनम्।।

(कैयदेव निघण्टु श्लोक 255, 256 औषधिवर्ग)

वनस्पतिशास्त्र में मांसल फल का मतीरे के अर्थ में प्रयोग हुआ है—मांसलफलः कालिन्दी।

अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र—दोनों में समान रूप से हुआ है।

यदि शास्त्रीय संदर्भ के बिना उनका अर्थ किया जाए तो असमंजस की स्थिति पैदा हो सकती है। इस विषय में असमंजस का हेतु है आचारशास्त्रीय संदर्भ के बिना किया जाने वाला शब्द का अर्थ।

संदर्भ आचारशास्त्र का

मुनि के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनमें एक विशेषण है—अमज्जमंसासी[1]—मद्य-मांस

का वर्जन करने वाला। जैन व्रती श्रावक भी मद्य-मांस का प्रयोग नहीं करते थे।[2] सूत्रकृतांग में जीव और शरीर को एक मानने का एक दार्शनिक पक्ष है। उस पक्ष के विषय में विमर्श करते हुए जैन श्रावकों ने कहा—यदि पुनर्जन्म नहीं है तो हम मद्य-मांस का वर्जन करते हैं, उपवास करते हैं वह हमारी क्रिया निरर्थक हो जाएगी।[3]

मुनि और श्रावक दोनों ही मद्य-मांस का सेवन नहीं करते थे। इस अवस्था में तीर्थंकर महावीर द्वारा मांस-सेवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भ्रांति का हेतु

मांसाहार संबंधी भ्रांति का हेतु 'कुक्कुड' शब्द का अनुवाद बना है। लेखक उसी के आधार पर मांसाहार की बात को दोहराते जा रहे हैं। डेल्यू द्वारा किया गया भगवती के उक्त विवादास्पद सूत्र का अनुवाद आज सचमुच भ्रांति पैदा करने वाला है—

भगवान महावीर ने सिंह अनगार से कहा—तुम रेवती के पास, जो मेंढिय ग्राम में रहती है, जाओ और उसे मार्जार द्वारा मारे गए कुक्कुट को महावीर के लिए भेजने के लिए कहो। वह महावीर के लिए जो दो कपोतों को बना रही है, उन्हें मत लाना। कुक्कुट को खाने के पश्चात् महावीर शीघ्र ही स्वस्थ होने लगे।

He (Mahavira) orders Siha to go the woman Revati at Mendhiyagama and ask for to send the cock Killed by the Cat to Mv. instead of two pigeons she was preparing for him. After having eaten the cock Mv. immediately regains health his.

(Viyahapanntti, (पृ. 219) JOZEF DELEU 'De Temple' Temple hof 37, Bsugge (BELGIE) 1970

इस विवादास्पद सूत्र का अनुवाद इस प्रकार है

'सिंह! तुम मेंढिय ग्राम नगर में गृहपत्नी रेवती के घर जाओ। गृहपत्नी रेवती ने मेरे लिए दो कपोत-शरीर—मकोय के फल पकाए हैं। वे मेरे लिए प्रयोजनीय नहीं हैं। उसके पास अन्य बासी रखा हुआ मार्जारकृत—चित्रक वनस्पति से भावित कुक्कुट मांस—चोपतिया शाक है वह लाओ। वह मेरे लिए प्रयोजनीय है।'

वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने 'कपोत-शरीर', 'मार्जार कृत' और 'कुक्कुट मांस' का अपनी ओर से कोई अर्थ नहीं किया है। उन्होंने केवल दो मतों का उल्लेख किया है—पहला मत कपोत आदि शब्दों का प्रचलित अर्थ मानता है। दूसरा मत उनका अर्थ वनस्पतिपरक मानता है। दूसरे मत के अनुसार कपोत-शरीर का अर्थ कुष्मांड फल है। मार्जार के विषय में दो मतों का उल्लेख है—1. वायुविशेष 2. मार्जार का अर्थ विरालिका नामक वनस्पति है।

कुक्कुट मांस का अर्थ बिजौरा है।[4]

यदि भगवतीसूत्र के अनुवादक आचारशास्त्रीय संदर्भ को ध्यान में रखकर परंपरा के प्रामाणिक स्रोतों की खोज करते तो उनका अनुवाद भ्रांत नहीं होता और विद्वान लेखक भी मूल स्रोतों की जानकारी करते तो वे आगे से आगे चलने वाली भ्रांति से बच जाते। यदि जैन विद्वान इन भ्रामक स्थलों के लेखन और अनुवाद पर पहले ही ध्यान दे देते तो भ्रांति की परंपरा नहीं चलती। अपेक्षा है—सब लोग अपनी-अपनी कमी का अनुभव करें। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. (क) सूत्रकृताङ्ग 2/2/66
   (ख) प्रश्नव्याकरण 6/6
   (ग) दशवैकालिक चूलिका 2/7
2. बृहत्कल्पभाष्य गाथा 1141
3. सूत्रकृताङ्ग चूर्णि पृष्ठ 316—इहरहा हि मज्जं मंसं परिहरामो उववासं करेमो णिरत्थयं चेव।
4. भगवई वृत्ति पत्र 691

❖❖

हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म हमें ही सुखी-दुखी नहीं बनाते, बल्कि हमारे अन्य संगी-साथियों को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। समाज द्वारा स्वयं प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करता रहता है। इसलिए धर्म-साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों में लगते हैं, तो केवल अपना ही भला नहीं करते, बल्कि औरों का भी भला साधते हैं।

—सत्यनारायण गोयन्का

समानता का सूत्र लोकतंत्र का प्राणतत्त्व है। आज का लोकतंत्र महावीर के सिद्धांतों पर आधारित है। इसका कारण है सापेक्षता, समानता, सहअस्तित्व और स्वतंत्रता—ये लोकतंत्र के भी सिद्धांत हैं तथा अनेकांत के भी। भगवान महावीर ने जो अनेकांत का दर्शन दिया वह आज लोकतंत्र में फलित हो रहा है। अनेकांत और एकता में सामंजस्य किए बिना लोकतंत्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। इस सामंजस्य की प्रणाली का दार्शनिक आधार है—अनेकांत। उसके अनुसार कोई भी वस्तु सर्वथा सदृश नहीं है और कोई भी वस्तु सर्वथा विसदृश नहीं है।

संतुलन का सेतु है अनेकांत

❑ समणी हिमप्रज्ञा

अनेकांत सिद्धांत भगवान महावीर की देन है। भगवान महावीर ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन कर दर्शन के क्षेत्र को व्यापकता प्रदान की और उसे नया आयाम मिला। महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आईंस्टीन के सापेक्षवाद ने विज्ञान के क्षेत्र में जो क्रांतिकारी परिवर्तन किया, वैसा ही परिवर्तन महावीर ने दर्शन के क्षेत्र में किया। उनका अनेकांतवादी दृष्टिकोण आज बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अनेकांत से वर्तमान में पनपने वाली अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

अनेकांत में किसी प्रकार का आग्रह नहीं, कोई खिंचाव नहीं। समस्या तो उत्पन्न ही वहां होती है जहां लचीलापन नहीं होता है। अनेकांत कहता है—मैं कहता हूं वह भी सत्य है, तुम कहते हो वह भी सत्य है। स्वयं को समझने के साथ-साथ दूसरों को समझने का भी प्रयत्न करो, यही अनेकांत दृष्टि है। अनेकांत के आधार पर कई समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है।

परिवार और अनेकांत

संगठन की पहली इकाई, संबंधों का प्रथम आधार, सहअस्तित्व और सहयोग की आधारशिला का नाम है—परिवार। व्यक्ति परिवार में अनेक संबंधों से बंधा हुआ होता है। उन आपसी संबंधों में कभी-कभी खींच-तान भी हो सकती है। जीवन और वातावरण अशांत भी बन सकता है—क्योंकि सबके विचार, रुचि, सोचने का तरीका भिन्न-भिन्न होते हैं।

परिवार की सफलता भावनात्मक रूप से सुदृढ़ स्थिति पर निर्भर है। भावात्मकता का विकास हुए बिना पारिवारिक जीवन अच्छा नहीं चल सकता। भावात्मक विकास के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक सहज सूत्र दिया है—सहिष्णुता का। उनका कहना है कि एक-दूसरे को सहन करने की कला परिवार को स्वर्ग बना देती है। असहिष्णुता मानसिक अशांति का द्वार खोल देती है।

पारिवारिक संगठन को बनाए रखने के लिए पिता पुत्र को सहन करे, सास बहू को तथा पति पत्नी को सहन करे। सहन करने वाला ही सफलता के द्वार तक पहुंच सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—सहन करो—सफल बनो।

प्रश्न है किसको सहन करें? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बताते हैं—

1. परिस्थितियों को सहन करें।
2. दूसरे व्यक्तियों को सहन करें।
3. अपने से भिन्न विचारों को सहन करें।

इन सबको सहन करने वाला व्यक्ति ही विकास कर सकता है। अनेकांत का सिंहनाद है—जो सहता है, वह रहता है। जो व्यक्ति विपरीत विचारों, स्थितियों व व्यवस्थाओं को सहन करता है उसकी मानसिक शांति को कोई भंग नहीं कर सकता।

जहां सोचने का नजरिया साफ नहीं होता वहां छोटी-सी चिनगारी विकराल दावानल का रूप धारण कर लेती है।

जहां अनाग्रही दृष्टिकोण नहीं होता वहां छोटी-छोटी बातें महाभारत बनकर पारिवारिक जीवन में कटुता का ऐसा विष घोल देती हैं कि फिर जीना मौत से भी बदतर प्रतीत होने लगता है।

अपने ही विचारों का आग्रह एकांतवादी दृष्टिकोण को जन्म देता है। अनेकांत का आशय है—दूसरों के विचारों को भी समझने का प्रयत्न करो। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी दृष्टि और अपना चिंतन होता है। यह कभी संभव नहीं कि सब दृष्टियां और सब चिंतन समान हो जाएं। विचारों की भिन्नता में जो सत्यांश है, उसका सम्मान करके ही व्यक्ति शांतिपूर्ण वातावरण का निर्माण कर सकता है।

अनेकांत का सिद्धांत है—गौण मुख्यवाद। देश, काल के परिवर्तन के अनुसार गौण मुख्यं हो जाता है और मुख्य गौण। इस सचाई को समझकर व्यवहार चलाने वाला परिवार एक सूत्र में बंधा रह सकता है। अन्यथा परिवार के विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कहना है कि अनेकांत का प्रयोग व्यवहार स्तर पर प्रारंभ होते ही परिवार में छोटी-छोटी बातों की जो समस्याएं उभरती हैं, उनका सही समाधान भी हो सकता है।

समाज और अनेकांत

समाज और व्यक्ति में समष्टि और व्यष्टि का संबंध है। समाज समष्टि एवं व्यक्ति व्यष्टि है। समाज का एक घटक है व्यक्ति। जैसा व्यक्ति होगा—वैसा ही समाज होगा। समाज-शास्त्रियों का मंतव्य है कि व्यक्ति का वास्तविक अस्तित्व समाज में है, इसीलिए व्यक्ति को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। व्यक्ति की सुरक्षा एवं उसके व्यक्तित्व निर्माण का साधन समाज बनता है। व्यक्ति अकेला नहीं रहता, वह सामूहिक जीवनयापन करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कहना है कि सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है—वही समुदाय है। समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। सिद्धांत भी यही है कि व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। मानव विकास के इतिहास में व्यक्ति ने समाज के द्वारा ही प्रगति की है, अतः समाज ही मुख्य है। एक विचारधारा ने व्यक्ति को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया है तो दूसरी ने समाज को।

अनेकांत के व्याख्याता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'जैन दर्शन : मनन मीमांसा' पुस्तक में लिखते हैं—'कहीं व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य। अनेकांतवाद व्यक्ति एवं समाज के संबंध की सापेक्ष व्याख्या करता है। व्यक्ति में वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों के मूल तत्त्व सन्निहित हैं। अतः व्यक्ति और समाज एक भी हैं और भिन्न भी हैं।'

सामाजिक संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—सापेक्ष चिंतन। समन्वय का दृष्टिकोण ही सहअस्तित्व पर बल देता है और सापेक्षता सहअस्तित्व को संभव बनाती है। निरपेक्ष दृष्टिकोण से सामाजिकता नहीं हो सकती, क्योंकि निरपेक्ष दृष्टि कहती है—पड़ोसी मरे या जीए, भूखा रहे या खाए, मुझे क्या? जबकि सामाजिक दृष्टि कहती है—'परस्परोपग्रहोजीवानाम्'।

प्राचीनकाल की वर्ण व्यवस्था ने समाज में अनेक वर्गों को जन्म दिया। अनेकांत के अनुसार वर्ण व्यवस्था गलत नहीं। वर्ण व्यवस्था तो समाज के श्रम का विभाजन है। श्रम विभाजन की दृष्टि से यह व्यवस्था उचित है, किंतु जन्म के साथ जाति व्यवस्था को जोड़ना उचित नहीं है। अनेकांत के अनुसार जन्म से नहीं, कर्म से जाति व्यवस्था हो। मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से महान बनता है। उत्तराध्ययन का उद्घोष है—कम्मुणा बम्हणो जाइ—जाति के आधार पर मनुष्य छोटा-बड़ा नहीं हो सकता। 'एगा मणुस्स जाइ' मनुष्य जाति एक है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'नया व्यक्ति नया समाज' पुस्तक में लिखते हैं—'घृणा और अहं इन दो तत्त्वों ने समाज में विषमताएं पैदा की हैं। कहीं जाति को लेकर असमानता है, कहीं रंग को लेकर असमानता है।'

जातीय संकीर्णता आज सामाजिक संघर्षों का एक प्रमुख कारण बनी है। हम कुछ जातीय पूर्वाग्रहों का पालन करते हैं, क्योंकि इनसे हमारी सुरक्षा, प्रतिष्ठा तथा मान्यता जैसी कतिपय आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। यद्यपि विभिन्न जातियों के बीच ऊंच-नीच की भावना के कारण वैर-भाव भी रहता है तथा जातीय संघर्ष चलते भी रहते हैं। जब तक व्यक्ति में अहं एवं घृणा का भाव है, तब तक इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'जाति, रंग और वर्ग के भेदों को लेकर के सिद्धांत भिन्न-भिन्न हैं। उन भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के आधार पर जो संघर्ष चल रहे हैं उनका आधार है—विषम मनोवृत्ति। उसके बीज की भूमि एकांतवाद है। अनेकांत के आधार पर व्यक्ति एवं समाज की सापेक्ष मूल्यवत्ता ही इन समस्याओं से मुक्ति प्रदान कर सकती है।'

हम एक-दूसरे की सहायता के बिना आगे नहीं बढ़ सकते, न विकास कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य समान है, विकास करने में सबका समान अधिकार है—यह सूत्र समझ में आ जाए तो समानता का विकास शीघ्र ही संभव हो सकता है।

अर्थनीति और अनेकांत

हिंसा बढ़ रही है। यह बात चारों ओर सुनाई दे रही है। हिंसा क्यों बढ़ रही है? कारणों की खोज पर चिंतन करने से अनेक कारण सामने आएंगे। उन संबमें मुख्य है—आर्थिक प्रलोभन।

आर्थिक प्रलोभन को बढ़ाने का सबसे बड़ा कारण है—अर्थ और अर्थनीति के प्रति मिथ्या अवधारणा। अपने पास एक रुपया है तो 14 रुपये का कर्ज लो। उस कर्ज को चुकाने के लिए अपेक्षा से अधिक श्रम होगा, अधिक व्यवसाय होगा, अधिक पैदावार होगी। आज आर्थिक विकास का आधार कर्ज बन गया है। आर्थिक विकास का यह एकांगी दृष्टिकोण शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति, भावात्मक संतुलन और पर्यावरण विशुद्धि से निरपेक्ष बन गया। आर्थिक विकास का यह एकांतवाद मानवीय मस्तिष्क को यांत्रिक बनाए हुए है। हर मनुष्य के मन में अपना आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने की लालसा प्रबल हो गई है।

आज की अर्थनीति का मूल है—विशाल पैमाने पर उद्योग लगाओ, उत्पादन करो। वर्तमान में इन्हीं अर्थनीतियों के प्रति अत्यधिक आकर्षण है। संसाधनों का प्रचुरतम उपभोग किया जा सके—यह आम धारणा है आज की। इसी आर्थिक प्रचुरता के आकर्षण के कारण ही तनाव बढ़ा है, मानसिक अशांति बढ़ी है और विश्वशांति के लिए खतरा भी बढ़ा है। हत्या, आत्महत्या, तलाक आदि समस्याएं भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अभिमत है कि इन समस्याओं के समाधान हेतु अर्थनीति के कुछ मानदंड सामने रखने होंगे। जैसे—

1. वह विश्वशांति के लिए खतरा न बने।
2. वह हिंसा को प्रोत्साहन न दे।
3. अपराध में कमी लाए।
4. इच्छा-परिमाण हो।
5. गरीबी न हो और न विलासिता का जीवन हो।
6. समाज व्यवस्था संतुलित बने।
7. आवश्यकता की पूर्ति के लिए धन का अर्जन, किंतु दूसरों को हानि पहुंचाकर अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि न हो, इसका जागरूक प्रयत्न करे।
8. विसर्जन की क्षमता का विकास करे।
9. स्वार्थ की सीमा निर्धारित करे।
10. अहिंसा और साधन-शुद्धि में विश्वास करे।

अनेकांत की चार प्रमुख दृष्टियां हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। किसी भी वस्तु का मूल्यांकन द्रव्य सापेक्ष, क्षेत्र सापेक्ष, काल सापेक्ष एवं भाव सापेक्ष होना चाहिए। निरपेक्ष मूल्यांकन अनेक उलझनें पैदा करता है। आर्थिक विकास के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति, भावात्मक संतुलन और पर्यावरण विशुद्धि गौण हो जाए, तो ऐसी अर्थनीति मात्र विडंबना ही होगी।

आर्थिक दौड़ ने उपभोग की जो आकांक्षा पैदा की है, उससे गरीबी की समस्या अधिक बढ़ी है। आर्थिक संपदा कुछेक राष्ट्रों और कुछेक व्यक्तियों तक सिमट रही है। यह सब विकास के एकांगी दृष्टिकोण का परिणाम है। यदि अर्थनीति के केंद्र में मनुष्य हो तो एक संतुलित अर्थनीति की कल्पना की जा सकती है। एकांगी या निरपेक्ष दृष्टिकोण द्वारा कभी संतुलित अर्थनीति की कल्पना नहीं की जा सकती।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कहना है कि पदार्थ का अत्यधिक उपभोग, विलासिता का जीवन जीना, इच्छा पर अनियंत्रण आदि ने आर्थिक क्षेत्र में विषमता, शोषण आदि समस्याओं को पैदा किया है। जिनके परिणामस्वरूप एक के पास आलीशान मकान, दूसरे के पास रहने को झोंपड़ी भी नहीं; एक के पास अरबों-खरबों की संपत्ति, दूसरे व्यक्ति के पास खाने के लिए भी अन्न नहीं—ये सारी विषमताएं एकांतवाद के कारण ही पनपती हैं। अनेकांत का सूत्र है—सहअस्तित्व अर्थात् सबके साथ समानता का व्यवहार, समान वितरण, संविभाग, सबको समान अधिकार प्राप्त हों। इसका फलित होगा कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं रहेगा, सबको आवश्यकतानुसार सामग्री प्राप्त होगी, साथ ही साथ पूंजीवाद-साम्यवाद की टकराहट व उससे पैदा होने वाली जो समस्याएं हैं, वे समाप्त होंगी। आज आर्थिक क्षेत्र में जो घोटाले चल रहे हैं, इनका भी सही समाधान इससे होगा।

राजनीति और अनेकांत

वर्तमान में राजनीतिक जीवन भी वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद-समाजवाद आदि अनेक

विचारधाराएं तथा राजतंत्र-प्रजातंत्र आदि अनेक शासन प्रणालियां प्रचलित हैं। ये विरोधी विचार एवं व्यवस्थाएं एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं, प्रत्येक खेमे के राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए भी तत्पर हैं। आज का युग राजनीतिक संघर्ष का युग है। आज अमेरिका, रूस और चीन अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। यहां तक कि संपूर्ण मानव जाति को समाप्त करने की दौड़ में हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार विभिन्न प्रणालियों में सहअस्तित्व जरूरी है। वस्तु का अस्तित्व विरोधी धर्मों के बिना होता ही नहीं है। एक ही वस्तु में विरोधी युगलों का रहना प्राकृतिक नियम है। आज जो शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की बात कही जा रही है वह अनेकांत का ही सिद्धांत है। एक समाजवादी विचारधारा है, एक पूंजीवादी विचारधारा है, एक लोकतंत्र की प्रणाली है, तो दूसरी एकतंत्र की प्रणाली है—दोनों संसार में चल रही हैं और परस्पर विरोधी भी हैं। यदि इस भाषा में सोचा जाए कि दोनों में से एक रहेगा, तो युद्ध के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहेगा। किंतु आज एक ही संसद में अनेक विरोधी विचार वाले बैठते हैं। उनका सहअस्तित्व है। यह अनेकांत की ही अवधारणा है।

आज के राजनीतिक जीवन में अनेकांत के दो व्यावहारिक प्रयोग—वैचारिक-सहिष्णुता और समन्वय अत्यंत आवश्यक हैं। विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर अपने दोषों को समझना जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

अनेकांत दृष्टि कहती है—

1. सभी अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं।
2. समस्या सुलझाने हेतु एक साथ बैठें।
3. एक-दूसरे को समझने का प्रयास करें।

विश्वशांति और अनेकांत

परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र और विश्व—इन सभी क्रमिक संगठनों का अर्थ है—सापेक्षता। बिना सापेक्ष दृष्टिकोण के कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। एक राष्ट्र दूसरे पर प्रभुत्व जमाना चाहता है—परिणाम होगा संघर्ष और अशांति जबकि वैयक्तिक, जातीय, सामाजिक, राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय सापेक्षता से समता, सामीप्य, सुव्यवस्था, स्नेह, शक्ति-वर्द्धन, मैत्री व शांति का जन्म होगा।

अंतरराष्ट्रीय जगत में अनेक समस्याएं हैं, उनमें एक है—अस्त्र-शस्त्रों की। अस्त्र-शस्त्रों के भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ आज भी जारी है। पारस्परिक अविश्वास व शक्ति-संतुलन का सिद्धांत इस समस्या को और अधिक गहरा बनाए हुए है। शांति-स्थापना के लिए, आर्थिक कल्याण व पुनर्निर्माण के लिए, समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान के लिए तथा आणविक संकट व पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए निःशस्त्रीकरण की अपेक्षा है। निःशस्त्रीकरण से ही विश्वशांति संभव है।

आज के पारमाणविक युग में जब हिंसा समग्र हो गई है और हमारे पास केवल दो ही विकल्प हैं—या तो हम विश्वशांति को अपना लें या फिर महाविनाश के लिए तैयार हो जाएं। हिंसा की समग्रता ने सहअस्तित्व की आवश्यकता को और अधिक पुष्ट किया है। युद्ध से तो यह मानव जाति ही समाप्त हो जाएगी। मनुष्य जाति को जीना है तो उसका एकमात्र मार्ग है—सहअस्तित्व और सापेक्षता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अभिमत है कि 'राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय' स्तर पर जितनी भी समस्याएं हैं—इनका सही समाधान सहअस्तित्व एवं सापेक्षता से ही किया जा सकता है। वे कहते हैं कि निरपेक्ष दृष्टिकोण अंतरराष्ट्रीय जगत में सदैव विषमता पैदा करता आया है। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। सापेक्ष नीति कहती है—किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता।

आज विश्व स्वयं सहअस्तित्व के विचार की तरफ बढ़ रहा है, सापेक्षता की तरफ बढ़ रहा है। क्योंकि पारमाणविक युग में यही उसका प्राण है। विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते। उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें लील जाएगी। इसीलिए विकसित राष्ट्रों ने अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की सापेक्षता को स्वीकार किया है तथा उनके विकास में सहयोग प्रदान की इच्छा प्रकट करते हैं।

लोकतंत्र और अनेकांत

तारतम्य मनुष्य की प्रकृति है। रुचि की भिन्नता स्वाभाविक है, सबके विचार कभी समान नहीं हो सकते हैं। आचार भी सबका एक जैसा नहीं है, अनेक भाषाएं, अनेक संप्रदाय हैं। इस बहुविध अनेकता को एकता के सूत्र में पिरोए रखने का कार्य करता है लोकतंत्र। लोकतंत्र का प्रमुख

सिद्धांत है—मौलिक अधिकारों की समानता। असमानता के आधार पर पृथक्करण नहीं, किंतु असमानता में समानता के सूत्र को खोजने का प्रयत्न है—लोकतंत्र।

समानता का सूत्र लोकतंत्र का प्राणतत्त्व है। आज का लोकतंत्र महावीर के सिद्धांतों पर आधारित है। इसका कारण है सापेक्षता, समानता, सहअस्तित्व और स्वतंत्रता—ये लोकतंत्र के भी सिद्धांत हैं तथा अनेकांत के भी। भगवान महावीर ने जो अनेकांत का दर्शन दिया वह आज लोकतंत्र में फलित हो रहा है। अनेकांत और एकता में सामंजस्य किए बिना लोकतंत्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। इस सामंजस्य की प्रणाली का दार्शनिक आधार है—अनेकांत। उसके अनुसार कोई भी वस्तु सर्वथा सदृश नहीं है और कोई भी वस्तु सर्वथा विसदृश नहीं है।

सदृशता के आधार पर एकता को पुष्ट कर सकते हैं। विसदृशता के आधार पर व्यक्ति की विशेषताओं का उपयोग कर सकते हैं। इसलिए असमानता और समानता में सामंजस्य स्थापित करने का दर्शन अनेकांत है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अभिमत है कि सबको विकास करने का समान अवसर हो। इसी आधार पर लोकतंत्र में हर व्यक्ति को सर्वोच्च सत्ता पर आसीन होने का अधिकार है। असमानता और समानता इन दोनों सचाइयों को समझकर ही लोकतंत्र की प्रणाली को स्वस्थ आधार दिया जा सकता है।

लोकतंत्र के संदर्भ में अनेकांत को तीन रूपों में व्यक्त कर सकते हैं—

1. वैचारिक संघर्ष का निराकरण।
2. वैचारिक सहिष्णुता।
3. वैचारिक समन्वय।

वैचारिक संघर्ष का निराकरण—लोकतंत्र में विरोधी पक्षों का होना स्वाभाविक है और उनकी वैचारिक भिन्नता होना भी स्वाभाविक है, किंतु उसका निराकरण करना भी आवश्यक है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उसके निराकरण में महावीर को उद्धृत करते हुए सापेक्षता का सूत्र देते हैं। सापेक्षता का अर्थ है—समान अवसर। सापेक्षता लोकतंत्र की रीढ़ है। लोकतंत्र में किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं चलता।

वैचारिक सहिष्णुता—अनेकांत का दूसरा लोकतंत्रीय पक्ष है वैचारिक सहिष्णुता। लोकतंत्र में दूसरों के विचारों, मतों, अवधारणाओं, रीति-रिवाजों, भाषा-साहित्य आदि के प्रति विशाल दृष्टिकोण रखना आवश्यक है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कहना है, यदि हम दूसरे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के विचारों-मान्यताओं का आदर करते हैं, उनके प्रति सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करते हैं तो हम देश, समाज, राष्ट्र में शांति का वातावरण निर्मित कर सकते हैं।

वैचारिक समन्वय—राजनीतिक धरातल पर यदि वैचारिक समन्वय हुआ तो लोकतंत्र की सफलता निश्चित है। वैचारिक समन्वय एक व्यापक दृष्टि है। इसके द्वारा ही एकता की स्थापना संभव है। जहां समन्वय होगा वहां पक्षपात नहीं होगा। अनेकांत का सिद्धांत मनोवैज्ञानिक और समन्वयवादी है।

काका कालेलकर ने अनेकांत को जैन दर्शन की बहुत बड़ी देन कहा है। उन्होंने कहा—अनेकांत के आधार पर हम सर्वधर्म समभाव का प्रचार कर सकते हैं, प्रेम-सौहार्द की भावना को विकसित कर सकते हैं। अनेकांत का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—एक मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाएंगे। लोकतंत्र का विकास इसी गौण-मुख्य व्यवस्था के आधार पर हुआ। एक व्यक्ति मुख्य बनता है तो शेष गौण होकर पीछे चले जाते हैं—यह सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था है। जब एक कुर्सी पर सौ व्यक्ति बैठना चाहें तो लोकतंत्र की व्यवस्था टूट जाती है। जो मुख्य होगा—वह दूसरों की अपेक्षा करके ही चलेगा, वह कभी निरपेक्ष होकर नहीं चलेगा। इसी आधार पर सापेक्षता का विकास हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अनेकांत ने विश्व को संतुलन, सापेक्षता, सहअस्तित्व—आदि ऐसे सिद्धांत दिए हैं जिनको अपनाकर वर्तमान की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। अनेकांत दृष्टि वाला कभी निरपेक्ष या एकांगी दृष्टि से चिंतन नहीं करेगा। उसका चिंतन सापेक्ष होगा, अनाग्रही होगा।

हम सब जानते हैं, यह विश्व विरोधी युगलों का समवाय है। यदि संतुलन न हो तो सब कुछ अस्त-व्यस्त हो सकता है। संतुलन का सेतु है अनेकांत। अनेकांत से फलित होता है सम्यक् दृष्टिकोण।

सहिष्णुता, समन्वय, समानता, सहअस्तित्व आदि अनेक सूत्र हैं। इन सूत्रों को व्यवहार जगत में लागू कर पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों की समस्याओं को हल कर विश्व को शांति का संदेश दिया जा सकता है। ❖

अनुभूति

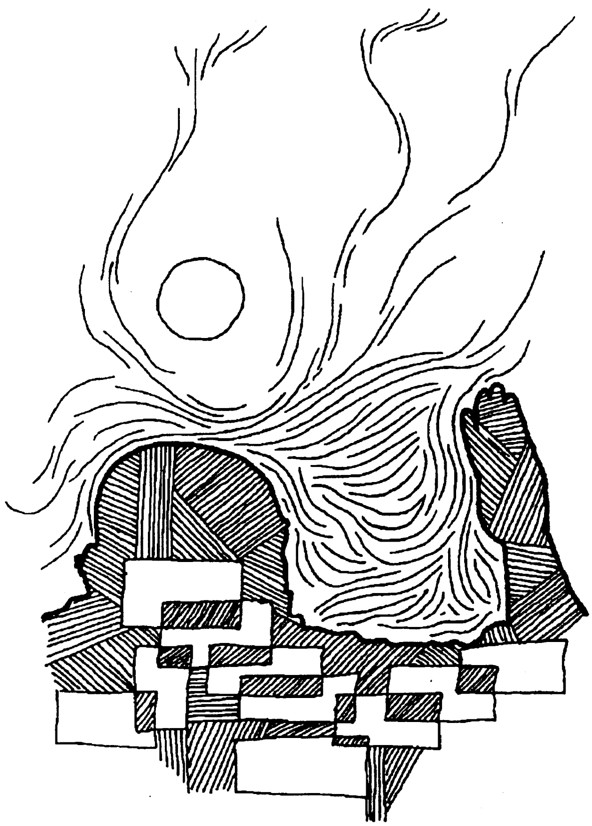

उनींदा

सारी रात करवटें बदलता हूं
बेनींद बिस्तर पर
क्या है जो उफन रहा है मेरे भीतर
कौन-से हिसाब जिन्हें चेतना चुकाती है?
कबूल कर चुका मैं अपने सारे अपराध
सौंप चुका चिंताएं पृथ्वी और समुद्र को
तब भी मैं मुक्त नहीं, क्यों?

बरसात की झड़ी और लहरों ने मुझे
सुन्न कर दिया है
चाकू-सी तेज एंजिन की घरघर
चींथ रही है मेरे कान।
क्या मानी है इस यंत्रणा के जिसका गवाह तक नहीं
ठूंठ के वीराने इस तन में कैद!

घाटी में उभरती भोर
दर्द को रौंदती आती है
मेरी ही खिड़की के सामने
भक् से जल उठता चिड़ियों का वृंदगान,
और भोली और निश्चिंत और क्रूर
इन द्रवित आंखों में उफनती
अलौकिक पावनता!

—ऑन्द्रॉश फोदोर (हंगारी कवि)

अनुवाद : गिरधर राठी

भारतीय संस्कृति में आंतरिक-आत्मिक सौंदर्य प्रधान तत्त्व है। अब तो पश्चिमी लोग इस महान भारतीय संपदा की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। भारतीय युवा अपनी इस अमूल्य धरोहर को गिरवी रख रहा है। उसे अपनी थाती की मूल्यवत्ता का एहसास ही नहीं है। हमारी युवापीढ़ी में वह सभ्यता संक्रांत हो रही है, जिससे पश्चिमी लोग ऊब चुके हैं। इंद्रिय एवं पदार्थ से शांति, सुख सब कुछ मिल सकता है—पाश्चात्य सभ्यता की यह अवधारणा अब उसे ही खोखला बना रही है और उस संस्कृति के कितने भयावह एवं विकृत परिणाम आए हैं, उससे मनुष्य कितना विक्षिप्त, अतृप्त और अशांत बना है—इसका व्यापक विश्लेषण हुआ है। इस सचाई की अनदेखी करने से युवा पीढ़ी का उसके परिणामों से बचना असंभव है।

किस दिशा में है युवा पीढ़ी

❑ मुनि धनंजयकुमार

'जीवन-स्तर' 'स्टेंडर्ड ऑफ लिविंग' प्रत्येक व्यक्ति की चाहत होती है। आधुनिक चिंतन एवं जीवन प्रणाली में उसे पर्याप्त महत्त्व मिला है। 'जीवन-स्तर' का मापदंड उपभोग में लाए जाने वाले संसाधनों की मात्रा से होता रहा है। एक व्यक्ति यदि दूसरे व्यक्ति की तुलना में अधिक पदार्थों का उपभोग करता है तो यह माना जाएगा कि दूसरे व्यक्ति का 'जीवन-स्तर' बेहतर है। 'जीवन-स्तर' का यह दृष्टिकोण पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से जन्मा है। वर्तमान युवा अपने 'जीवन-स्तर' के बारे में बहुत चिंतित है। उसकी इस दिशागामी चिंता से पश्चिमी सभ्यता उस पर हावी हो रही है। वह अपने परिवेश को कुछ ऐसा रूप देने के लिए प्रयत्नशील है, जिससे उसका 'जीवन-स्तर' निरंतर निखार पाता रहे। 'जीवन-स्तर' का यह स्वर वर्तमान युवक को अपने आकर्षण में बांध चुका है। उससे खिंचा हुआ युवक अपने अस्तित्व से अधिक अपने स्तर के प्रति जागरूक बना रहता है। उसकी यह जागरूकता उसके जीवन-व्यवहार में स्पष्ट परिलक्षित भी हो रही है।

जीवन का एक पक्ष है—खान-पान। आहार जीवन की अनिवार्यता है। मनुष्य उसकी पूर्ति के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है। सामान्य भोजन (चपाती, दाल, साग-सब्जी आदि) से उसकी यह आवश्यकता अधूरी नहीं रहती। किंतु जब जीवन-स्तर का प्रश्न सामने आता है, मुनष्य इनसे संतुष्ट नहीं होता। प्रतिदिन घर में बनने वाला भोजन उसे अच्छा नहीं लगता। रोज-रोज घर पर नाश्ता करना उसे सुहाता नहीं। जीवन-स्तर की वृद्धि में खान-पान के जो मापदंड सहायक बनते हैं, उसी ओर वह केंद्रित हो जाता है। उसे वह 'पचास-पैसी' चाय पंसद नहीं आती, जो टी-स्टॉल पर आसानी से उपलब्ध हो जाती है। तब वह पांच सितारा होटल में मिलने वाली चाय की चुस्कियां लेना पंसद करेगा, जिसका मूल्य सौ-पचास रुपए हो सकता है। मैंने ऐसे आधुनिक परिवारों को भी देखा है, जो जीवन-स्तर को बनाए रखने के लिए होटलों में बना भोजन घर पर मंगाकर खाना पसंद करते हैं। वे कहते हैं—हमारे पास नौकर हैं, रसोइए हैं, संपूर्ण खाद्य सामग्री है। किंतु होटलों के खाने का मजा ही कुछ और है। जब वे बाहर होटल में खाते हैं तो उन्हें अपने जीवन-स्तर पर गर्व होता है। दूसरों को भी पता चलता है कि हमारी हैसियत क्या है। पाश्चात्य सभ्यता के इस प्रवाह में हमारे सांस्कृतिक मूल्यों की अस्मिता खतरे में है।

जीवन का दूसरा पक्ष है—सुंदरता। सौंदर्य-प्रिय होना एक बात है और सुंदर दिखना पसंद करना अलग बात है। संस्कृत का प्रसिद्ध सूक्त है :

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः'

जो निरंतर बदलता रहता है, प्रतिक्षण नए-नए रूप धारण करता है, वही सुंदर है। युवा समाज ने सुंदरता की इसी परिभाषा को अपने ढंग से आत्मसात कर लिया है। वह नए-नए कीमती वस्त्र पहनने में विश्वास करता है। वह नित-नई डिजाइनों, सौंदर्य-प्रसाधनों से स्वयं को सजाता है, संवारता है। आधुनिकतम फैशनेबल एवं भड़कीले वस्त्रों को

वह 'जीवन-स्तर' के लिए आवश्यक मानता है। यही कारण है पाउडर, क्रीम, सैंपू आदि कथित सुंदरतावर्द्धक पदार्थों का इस्तेमाल आज तीव्र गति से बढ़ रहा है। सहज सौंदर्य पर कृत्रिम आकर्षक लिबास एवं हानिकारक कृत्रिम प्रसाधन हावी हो गए हैं। वर्तमान युवक अपनी आय का एक बड़ा भाग ऐसे ही प्रसाधनों पर खर्च कर रहा है। वह अपने जीवन-स्तर के एवज में स्वास्थ्य एवं शांति को भी कोई मूल्य नहीं देता। वह मानता है—व्यक्ति कैसा भी क्यों न हो, सुंदर अवश्य दिखाई देना चाहिए। इस अवधारणा से कृत्रिम सौंदर्य और सुंदरता के जघन्य प्रदर्शन को बढ़ावा मिला है। मनुष्य का आंतरिक एवं स्वाभाविक सौंदर्य उपेक्षित हुआ है।

पाश्चात्य संस्कृति इच्छा की वृद्धि एवं पूर्ति का सूत्र देती है। भारतीय संस्कृति में इच्छा का संयम मुख्य है। वर्तमान युवा पीढी की इच्छाएं असीम हैं। वह उनके भोग में आकंठ डूबी हुई है। उसे संयम की बात नागवार लगती है। इच्छाओं का असंयम, इंद्रियों की उच्छृंखलता और अत्यधिक कामुकता ने वर्तमान युवा को ग्रस लिया है। अध्यात्म और संयम-प्रधान भारत की धरती पर उन्मुक्त यौनाचार, अभद्र प्रेमालाप और कामुकता के पाशविक प्रदर्शन होने लगे हैं। मानवीय संस्कृति की इस जघन्यतम विकृति का संवाहक बनकर भारत अपनी अस्मिता पर कभी न मिटने वाली कालिख पोत रहा है। भारतीय संस्कृति के इस क्रूर उपहास को मिटाने का प्रयत्न युवा समाज ने व्यापक स्तर पर अभी तक नहीं किया है। 'जीवन-स्तर' के नाम पर पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण आज भी बदस्तूर जारी है। होटलीय संस्कृति का विकास, फैशनेबल एवं सैक्सी वस्त्रों का बढ़ता प्रचलन, अंग-प्रदर्शन की ओर बढता रुझान, क्लबों-रेस्तरों में कैबरे डांस (नग्न नृत्य) को देखने-दिखाने के शर्मनाक कार्यक्रमों की प्रचुरता, अश्लील, अभद्र एवं कामोत्तेजक विज्ञापनों का बढ़ता सिलसिला, हिंसा, अपराध एवं बलात्कार के दृश्यों का फिल्मों में अति प्रयोग आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनसे भारतीय संस्कृति में पाश्चात्य सभ्यता के बढ़ते प्रभाव का अंकन हो सकता है। पाश्चात्य सभ्यता भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा पर प्रहार करने में सफल रही है। इस सचाई को आज झुठलाया नहीं जा सकता। भारतीय युवा मानस में 'जीवन-स्तर' की प्रबल आकांक्षा का जागना इसका मुख्य हेतु बना है।

वर्तमान युवा जिस जीवन-शैली को स्तरीय मानता है, वह अनेक रूपों में अनेक अवसरों पर अभिव्यक्त होती है। उसमें आवश्यक-अनावश्यक का प्रश्न अत्यंत गौण होता है, अपनी प्रतिष्ठा, अपना स्तर मुख्य बन जाता है। जन्म-दिन पर पार्टियों का आयोजन, ढेरों उपहारों का प्रदर्शन, केक काटने का आडंबरपूर्ण कार्यक्रम (चाहे उसमें अंडे भी क्यों न हों), 'हेप्पी बर्थडे' के गूंजते हुए स्वरों में आतिशबाजी के विविध करतब आदि—कुछ ऐसी परंपराएं डाली जा रही हैं, जिनसे जन्मदिवस फूहड़ मनोरंजन का एक माध्यम बन रहा है। जन्मदिवस आत्मालोचन का विषय बनने की बजाय आत्म-पतन का हेतु बन रहा है।

विवाह एक सामाजिक बंधन है। दो व्यक्तियों के इस पवित्र मिलन में 'जीवन-स्तर' का जो जघन्य प्रदर्शन होता है—वह दुर्भाग्यपूर्ण है। सैकड़ों-सैकड़ों लोगों का बरात में जाना, उनकी खान-पान की हर मांग को पूरा करना, बरातियों का रात्रि के समय भीड़ भरे बाजारों में नाचना, दहेज की मांग, ठहराव, प्रदर्शन आदि-आदि। इनका विवाह जैसे सामाजिक बंधन के साथ क्या अनुबंध हो सकता है? किन्तु जीवन-स्तर और प्रतिष्ठा का ऐसा व्यामोह है, जिससे ग्रस्त व्यक्ति उसमें लाखों-लाखों रुपये फूंक देता है। विवाह के उपरांत 'हनीमून' मनाने की परंपरा का जो सूत्रपात हुआ है, वह यौवन-प्रदर्शन एवं यौन उच्छृंखलता की पाश्चात्य सभ्यता की ओर पादन्यास है। भारतीय सभ्यता में संभवतः इसका स्थान अतीत में कभी नहीं रहा।

भारतीय संस्कृति में आंतरिक-आत्मिक सौंदर्य प्रधान तत्त्व है। अब तो पश्चिमी लोग इस महान भारतीय संपदा की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। भारतीय युवा अपनी इस अमूल्य धरोहर को गिरवी रख रहा है। उसे अपनी थाती की मूल्यवत्ता का एहसास ही नहीं है। हमारी युवा पीढ़ी में वह सभ्यता संक्रांत हो रही है, जिससे पश्चिमी लोग ऊब चुके हैं। इंद्रिय एवं पदार्थ से शांति, सुख सब कुछ मिल सकता है—पाश्चात्य सभ्यता की यह अवधारणा अब उसे ही खोखला बना रही है और उस संस्कृति के कितने भयावह एवं विकृत परिणाम आए हैं, उससे मनुष्य कितना विक्षिप्त, अतृप्त और अशांत बना है—इसका व्यापक विश्लेषण हुआ है। इस सचाई की अनदेखी करने से युवा पीढ़ी का उसके परिणामों से बचना असंभव है।

जीवन-स्तर के जो मानदंड वर्तमान युवा-मानस में पनपे हैं उनकी पूर्ति का एकमात्र साधन है—धन। उसके बिना व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं जी सकता। आवश्यकतापूर्ति के लिए धन जुटाना आसान है। आकांक्षापूर्ति के लिए अपार धन भी अपर्याप्त ही रहता है। जीवन-स्तर में विकृत वृद्धि करना एक आकांक्षा है। युवा समाज में यह आकांक्षा जिस कदर बढ़ी है, उससे व्यक्ति एवं

समाज मूल्यों के संकट से घिर गए हैं। नैतिक रहते हुए व्यक्ति जितना धन कमा सकता है, उससे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं, जीवन-आकांक्षाएं नहीं। एक ओर नैतिक मूल्य हैं, दूसरी ओर जीवन-स्तर के बनते-बदलते मानदंड। व्यक्ति के भीतर जब जीवन-स्तर की आकांक्षाएं प्रबल बनती हैं तो नैतिक मूल्य धरे रह जाते हैं। अर्थ ही उसका लक्ष्य बन जाता है। धन के बिना उसे अपना व्यक्तित्व बौना-सा दिखाई देता है। वर्तमान युवा धन बटोरने में दिन-रात निमग्न है। उसकी कामना रहती है—उसे प्रचुर धन मिले, चाहे वह किसी भी उपाय से मिले।

आज अनैतिकता, भ्रष्टाचार, रिश्वत, कालाबाजारी, मिलावट और धोखाधड़ी चरम सीमा पर हैं। उनके मूल में जीवन-स्तर की कुत्सित आकांक्षाएं हैं। धन के प्रति सघन आसक्ति ने व्यक्ति को अतिव्यस्त ही नहीं बनाया है, अस्त-व्यस्त भी कर डाला है। आज किसी से पूछा जाए कि क्या उसे कुछ फुरसत है? क्या वह सद्‌कार्य के लिए दो-एक घंटे निकाल सकता है? प्रत्येक व्यक्ति से यही उत्तर मिलेगा—एक क्षण की भी फुरसत नहीं है। मेरे सामने इतना काम पड़ा है, मुझे मरने की भी फुसरत नहीं है। अतिव्यस्तता की वह भारी कीमत अदा करने को तैयार है, किंतु कथित जीवन-स्तर में कमी उसे स्वीकार्य नहीं है।

वर्तमान युवा को इस चिंता ने विक्षिप्त-सा बना डाला है। विक्षिप्तता का मुख्य कारण है—चंचलता। पदार्थ का जीवन-स्तर से सीधा संबंध है। वर्तमान युवा पदार्थ-केंद्रित अधिक है। उसका पदार्थ के प्रति आकर्षण है, लगाव है। पदार्थ के आकर्षण से पदार्थ आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति की पहली कसौटी है—लोलुपता। लोलुपता का निरंतर बने रहना, उसका असीम हो जाना व्यक्ति की पदार्थ-चेतना को उभार देता है। लोलुपता से असंतुलन बढ़ता है, अतृप्ति का भाव जागता है। अतृप्ति, असंतुलन और लोलुपता चंचलता के उत्पादक तत्त्व हैं। चंचलता की अंतिम स्थिति है—विक्षिप्तता। विक्षिप्तता का अर्थ है—एक बिंदु पर टिक नहीं पाना। चंचलता उसका मूल कारण है। आज विश्व में पागलों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्रत्येक दस व्यक्तियों में एक विक्षिप्त है। उनमें भी युवा पीढ़ी के लोग ही अधिकांशतः विक्षिप्त होते हैं। पाश्चात्य सभ्यता में रहने वाले व्यक्ति विक्षिप्त ज्यादा पाए जाते हैं। इसका मूल कारण है उनकी पदार्थ के प्रति अति-आसक्ति व लोलुपता। अति-लोलुपता उन्हें कहीं पर भी स्थिर नहीं होने देती है। वे निरंतर चंचल बने रहते हैं। चंचलता जब अंतिम बिंदु पर पहुंचती है, वे विक्षिप्त हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति में पदार्थ के प्रति अनासक्ति की बात कही गई है। पदार्थ के प्रति अप्रतिबद्धता का समर्थन तृप्ति एवं संतुलन का मार्ग प्रशस्त करता है। वह स्थिरता एवं एकाग्रता की ओर जाने का मार्ग है। वर्तमान युवा जगत में पदार्थ की लालसा को जो मूल्य मिला है, उससे भी वह विक्षिप्तता का शिकार होने लगा है।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—संयम। वर्तमान युवा पीढ़ी में संयम का स्रोत सूखता चला जा रहा है। आज का स्वर है—इच्छाएं बढ़ाओ—आवश्यकताएं बढ़ेंगी। और आवश्यकताएं बढ़ेंगी तो उत्पादन बढ़ेगा। आधुनिक अर्थशास्त्र का भी यही सिद्धांत है। युवा पीढ़ी ने इस स्वर को स्वीकर कर लिया है। व्यक्ति अपने मन में एक इच्छा को संजोता है। उसकी पूर्ति के लिए सतत सचेष्ट रहता है। वह सोचता है—इस इच्छा की पूर्ति से उसे तृप्ति मिलेगी, संतोष मिलेगा। किंतु ज्योंही इच्छा पूरी होती है, अतृप्ति और असंतोष की आग बुझती नहीं, वह अधिक भभक उठती है। उसे तृप्त और संतुष्ट करने के प्रयत्न अग्नि में ईंधन का काम करते हैं। इस अतृप्ति का परिणाम होता है—इच्छा की आग में व्यक्ति स्वयं भस्म हो जाता है, किंतु इच्छा कभी शांत नहीं होती। इच्छा की पूर्ति व्यक्ति के हाथ में होती है पर उससे तृप्ति की प्राप्ति में वह पराधीन होता है। इच्छा से कभी तृप्ति नहीं होती—इस बात को वस्तुतः पकड़ा नहीं जा रहा है।

'जीवन-स्तर' व्यक्ति के भीतर कभी न मिटने वाली अतृप्ति को जन्म देता है। ज्योंही व्यक्ति तृप्ति के निकट जाता है, वह और अधिक अतृप्त बन जाता है। व्यक्ति एक इच्छा को भोगता है, उसे सुख मिलता है। वह बार-बार उसे भोगना चाहता है तृप्ति के लिए। उसका मानस दिन भर भोगों में लग जाता है। भोग एवं तृप्ति के बिना उसका चित्त अशांत बन जाता है। वह तृप्त होने की चिंता में, बार-बार सुखाकांक्षा की चिंता में लगा रहता है। विषयों की ओर भागता हुआ वह तनाव से भर जाता है। आकांक्षा, चंचलता और असंयम तनाव के मूल कारण हैं। तनाव से ग्रस्त व्यक्ति के दुख का कोई पार नहीं होता। तनाव होना अपने आप में दुख है। शांति की कमी ही तनाव है। वर्तमान युवा पीढ़ी तनाव का जीवन जी रही है। कहीं शांति नहीं है, संतोष नहीं है, निश्चिंतता नहीं है, सर्वत्र तनाव ही तनाव व्याप्त है। तनाव से इंद्रिय-उच्छृंखलता को बढ़ावा मिलता है, आनंद एवं शक्ति का स्रोत सूखता चला जाता है।

तनाव आज युवा समाज का पर्याय बन रहा है। प्रत्येक युवा के जीवन का वह सहज अभिन्न अंग-सा हो

गया है। उससे अनेक शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों का प्रादुर्भाव हुआ है। तनाव में व्यक्ति चिंता से भर जाता है। उसके स्वभाव में एक रुक्षता, अन्यमनस्कता, उदासी और बेचैनी समा जाती है। तनाव और चिंता में डूबे हुए व्यक्ति को खाने-पीने का भान नहीं होता। अनिद्रा, बदहजमी, गैस जैसी बीमारियों में वह जकड़ता चला जाता है। वह अपने इस दुख को भुलाने के लिए ओषधियों का सेवन करता है। तंबाकू, ब्रांडी, शराब, हेरोइन आदि मादक द्रव्यों का उपभोग करता है। वे नशीले द्रव्य कुछ समय के लिए उसे चिंता और तनाव से राहत दिलाते हैं। एक निश्चित समय के बाद उनका प्रभाव भी खत्म हो जाता है। चिंता और तनाव अधिक आक्रामक बनकर उसकी दुखद स्थिति को भयंकर बना देते हैं। उसका जीवन निराशा, कुंठा और विषाद का जीवन हो जाता है। यही निराशापूर्ण स्थिति आत्महत्या का कारण बन जाती है। पाश्चात्य देशों में आत्महत्या की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। भारतीय युवा पीढ़ी में भी आज यह समस्या उग्र बन रही है। मादक द्रव्यों का युवा जीवन में बढ़ता प्रवेश उसे मृत-सा जीवन जीने को बाध्य कर रहा है। जीवन-स्तर की यह एक भयावह परिणति है।

भारतीय युवा पीढ़ी आज एक ऐसे चक्रव्यूह में फंस गई है जिसे भेदने की क्षमता उसमें नहीं है। इच्छा, आकांक्षा, चंचलता, अतृप्ति, तनाव और व्यसन के चक्र में फंसी हुई वह दिग्भ्रांत-सी भटक रही है। इससे मुक्ति का मार्ग उसे सूझ ही नहीं रहा है। इस चक्र-भेदन का मार्ग है—जीवन संयम और अनासक्ति की ओर मुड़ जाए। जीवन-स्तर का विकल्प है—जीवन की गुणवत्ता। उसका बोध, उसकी चेतना भारतीय युवा समाज में जागे, जिससे वह भारत की महान आध्यात्मिक एवं समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा को अक्षुण्ण रख सके, गतिशील बना सके। ❖

धर्म की पहली सीढ़ी यह है कि स्थूल शरीर में अंतर्हित आत्मा के अस्तित्व को समझ लिया जाय। दृश्य शरीर ही संपूर्ण वास्तविकता नहीं है। उसके अंदर एक अदृश्य किंतु सदा क्रियाशील गृह-स्वामी—देही—विद्यमान है। वह शरीर का स्वामी है। उसके अस्तित्व का साक्षात्कार करने पर ही हम सच्चे रूप में जीवन-यापन कर सकते हैं। इस आत्मा को मस्तिष्क के भावात्मक कार्यों से मिलाना नहीं चाहिए। यह केवल विचार, इंद्रियज्ञान, भावना, इच्छाशक्ति और विवेक नहीं है। ये सब भौतिक शरीर के कार्य हैं। आत्मा इनसे विलग और इन सबके पृष्ठ पर है। उसका स्थान शरीर का कोई अंग-विशेष नहीं है। वह समस्त शरीर और इंद्रियों में व्याप्त है। उस पर 'विस्तार' के नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी व्याप्ति वैसी ही है जैसे कि, भौतिक वैज्ञानिकों के कथनानुसार, आकाश समस्त स्थान और पदार्थों में समाया हुआ है। आत्मा मनुष्य के ही नहीं, वरन् प्रत्येक प्राणी और वनस्पति, प्रत्येक जीवधारी के होता है। शरीर केवल कर्मक्षेत्र अथवा 'क्षेत्र' है। उसमें आत्मा निवास करता है। वह 'क्षेत्री' अथवा 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। शरीर के मर जाने पर, गाड़ या जला दिए जाने पर अथवा वन्य पशु-पक्षियों द्वारा खा डाले जाने पर आत्मा की मृत्यु नहीं होती। मृत्यु पर शोक करना मूर्खता है, क्योंकि आत्मा अमर है। मृत्यु शरीर का निपात करती है, ठीक वैसे ही जैसे कि हम अपने कपड़े उतार देते हैं।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

आज सारी दुनिया जिस आतंकवाद की समस्या से ग्रस्त और त्रस्त है उसके मूल कारण हैं—धर्मांधता, किसी एक महाशक्ति की संप्रभुतावादी मनोवृत्ति, समर्थ व्यक्ति या समुदाय द्वारा असमर्थ व्यक्ति या समुदाय का शोषण। इनकी जड़ पर प्रहार करने वाला आंदोलन 'अणुव्रत' गुरुदेव तुलसी का अप्रतिम अवदान है। पर्यावरण की समस्या, अप्रामाणिकता और समाज में व्याप्त अनेक कुरूढ़ियों का निवारण भी अणुव्रत आंदोलन का एक आयाम है। तनावों से घिरे मानव मन में छाए अंधकार को दूर कर ज्योतिर्मय समाज का निर्माण करने के लिए आपने प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया। शिक्षा पद्धति की अपूर्णता को दूर कर संपूर्ण व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में क्रांतिकारी कदम है—जीवन विज्ञान। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान गुरुदेव तुलसी की परोपकार वृत्ति के परिणाम हैं।

नानाजातीयैश्चैते प्राणा भवन्ति

❑ समणी शारदाप्रज्ञा

प्राण जीवनी-शक्ति का नाम है। हर जीव में ये विद्यमान हैं। इसीलिए जीव को प्राणी भी कहा जाता है। साधनों के द्वारा प्राण का नियमन संभव है। जो प्राण को जानता है वही उसका नियमन भी कर सकता है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—अध्यात्म चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते अर्थात् अध्यात्म प्राणों को जानकर व्यक्ति अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। जैन योग में भी प्राण साधना का उल्लेख पाया जाता है। भद्रबाहु स्वामी ने नेपाल की गुफा में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना की थी। महाप्राण शब्द का प्रयोग वेदों में प्राप्त नहीं होता तथापि वेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों में 'प्राण तत्त्व' का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

प्राण को आत्मा से अभिन्न बतलाया गया है अर्थात् वह आत्मा ही है। शुद्ध प्राण को ऋषि संज्ञा से अभिहित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—

'के त ऋषय इति प्राणा वा ऋषय'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपने प्रवचन के प्रारंभ में सदैव ही गुरुदेव तुलसी को 'महाप्राण गुरुदेव' ही संबोधित करते थे। आचार्य तुलसी के महाप्रयाण के बाद आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जिस गीत की रचना की वह भी 'महाप्राण गुरुदेव' को ही समर्पित था। आज भी जन-जन के अधरों पर उस गीत के बोल 'महाप्राण गुरुदेव' थिरक रहे हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने यदि गुरुदेव तुलसी को 'महाप्राण' संबोधन दिया है तो निश्चय ही वह गहरे अर्थ तो रखता ही है। अतः महाप्राण संबोधन का थोड़ा विश्लेषण अवश्य किया जाना चाहिए।

प्राणों की अनेक जातियां हैं—नानाजातीयैश्चैते प्राणा भवन्ति। जैसे—कश्यप प्राण, वसिष्ठ प्राण, अगस्त्य प्राण इत्यादि। इन ऋषि प्राणों के विविध कार्य बतलाए गए हैं—अङ्गिराप्राणेन कर्मप्रवणता, वसिष्ठ प्राणेन ओजस्विता, अत्रिप्राणेनानसूया, पुलस्त्यप्राणेन घातक-वृत्तिः, क्रतुप्राणेनाध्यवसायो, दक्षप्राणेन व्यवसायबुद्धिः, कश्यपप्राणेन प्रजावात्सल्यं, विश्वामित्रप्राणेनायुःस्वरूपरक्षा, भृगुप्राणेन विद्याप्रवणता, अगस्त्यप्राणेन परोपकारवृत्तिः, मरीचिप्राणेन च स्वभावमार्दव उदेति।

अंगिराप्राण से कर्मप्रवणता उत्पन्न होती है। जिसका अंगिराप्राण मूर्च्छित होता है वह सर्वथा अकर्मण्य, आलसी बना रहता है। गुरुदेव तुलसी को अकर्मण्यता और आलस्य तो छू तक ही नहीं पाए थे। उम्र के उस छोर से इस छोर तक वे सदा कुछ न कुछ करते ही रहे। सुबह चार बजे से रात को लगभग ग्यारह बजे तक वे अविकल भाव से अप्रमत्तता की साधना करते थे। उनके इर्द-गिर्द कोई दूसरा भी प्रमाद नहीं कर सकता था। अपने जीवन के अंतिम क्षण तक वे सक्रिय रहे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस दिन

सूर्योदय से लेकर महाप्रयाण तक के संपूर्ण कार्यों की जो तालिका प्रस्तुत की है वह उनकी सक्रियता का सशक्त सबूत है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उनकी सक्रियता को अपने क़ाव्य में रूपायित भी किया है—

जीवन भर काम करूंगा, गण का भंडार भरूंगा,
संकल्प अटूट निभाया रे, महाप्राण गुरुदेव...।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य तुलसी का अंगिराप्राण प्रबल था। वसिष्ठप्राण भी गुरुदेव तुलसी में पूर्णरूपेण जागृत था। वसिष्ठप्राण ओजस्विता का हेतुक माना जाता है। ओजस्विता गुरुदेव तुलसी का सहज गुण था। उनके मुखमंडल पर कांति सदा बनी रहती थी। यहां तक कि उनके आस-पास रहने वाला कोई व्यक्ति भी उदास या कांतिहीन रहे उन्हें यह भी पसंद नहीं था। सहज प्रसन्न मुखमुद्रा, ओजस्वी वाणी, आंखों से झांकती आंतरिक तेजस्विता गुरुदेव तुलसी के व्यक्तित्व के अनुपम अंग थे।

अत्रिप्राण से अनसूयावृत्ति का उदय होता है। व्यक्ति की विशेषता को बतलाकर प्रोत्साहन देना भी गुरुदेव तुलसी की सहज वृत्ति थी—अनसूया, निंदा, परदोषदर्शन जैसी वृत्तियों की तो गुरुदेव तुलसी के हृदयहारी चरित में कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका आदर्श 'शत्रु को प्रेम करो' नहीं था, बल्कि 'किसी को शत्रु मत मानो' था। गुरुदेव तुलसी अपने विरोधी का भी विरोध नहीं करते थे। 'विरोध को विनोद' बनाने की गजब की कला उन्हें हस्तगत थी। यहां एक घटना प्रासंगिक होगी—गंगाशहर से वे विहार कर रहे थे। मार्ग पूर्व-निर्धारित था, पर विहार के समय ही ज्ञात हुआ कि उसी मार्ग से अन्य संप्रदाय के आचार्य भी आ रहे हैं। सवाल उठा कि रास्ता कौन छोड़े? गुरुदेव तुलसी ने उस समय गहरी सूझ-बूझ व विशालता का परिचय देते हुए अपने श्रावकों को मार्ग छोड़ने का इंगित किया, जिसे श्रावकों ने भी स्वीकार कर लिया। गुरुदेव की अनसूयावृत्ति के फलस्वरूप एक निरर्थक प्रसंग टल गया। मैत्री का विस्तार हो जाने पर असूया जैसी वृत्तियां विलुप्त हो जाती हैं। यही अत्रिप्राण का कार्य है।

पुलस्त्यप्राण घातक वृत्ति का प्रवर्तक है। गुरुदेव तुलसी हनन करने में भी सिद्धहस्त थे। जहां कहीं उन्हें दोष दिखाई देते, उनका हनन करने में वे तत्पर हो जाते। दोषदर्शन उनका स्वभाव नहीं था, किंतु दोषहनन अथवा दोषपरिमार्जन उन्हें प्रिय था। अपनी कृति पंचसूत्रम् में उन्होंने लिखा है कि प्रमाद हो जाने पर उसे बताया जाए। पुनः प्रमाद हो जाए तो फिर याद दिला दें। बार-बार प्रमाद होता रहे तो 'प्रायश्चित्तं ततो देयं, ततो निष्कासन गणात्' उसे प्रायश्चित देना चाहिए। आवश्यक हो तो गण से निष्कासन भी किया जा सकता है।

क्रतुप्राण 'अध्यवसाय' वृत्ति का हेतु है। अध्यवसाय अर्थात् दृढ़ संकल्प। गुरुदेव तुलसी दृढ़ संकल्पी व्यक्तित्व के धनी थे। कार्य से पूर्व चिंतन अवश्य करते, किंतु निर्णय के बाद अविलंब क्रियान्विति और निष्पत्ति उनकी दृढ़संकल्पिता के परिचायक रहे। जिस कार्य के औचित्य को परख कर उसे करने की ठान लेते—वह कार्य अवश्य ही पूरा होता। विरोध के बावजूद अपने पथ पर अटल रहने वाले गुरुदेव तुलसी ने खुली आंखों से जो भी सपने देखे, उन सपनों को यथार्थ में बदल दिया। उनका घोष था— 'सही प्रगति का एक ही रास्ता : दृढ़ संकल्प, अमिट हो आस्था।'

कार्य की निष्पत्ति में जहां उनका दृढ़ संकल्प हेतु बनता वहीं कार्यकौशल भी हेतु बनता। यह दक्षप्राण का कार्य है। दक्षप्राण से व्यवसाय बुद्धि का प्रवर्तन होता है। व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्यकौशल। गुरुदेव छोटे से छोटे कार्य को भी कुशलतापूर्वक करने में विश्वास करते थे। वस्त्र धारण जैसे रोजमर्रा के कार्य में भी उनका कौशल झलकता था, तो आगम वाचना जैसे गहन-गंभीर कार्य में भी दक्षप्राण यानी व्यवसाय-बुद्धि दृष्टिगोचर होती थी। उनकी संपूर्ण जीवन-शैली ही कौशल से भरपूर थी।

थे तो गुरुदेव तुलसी एक संन्यासी, बाल्यकाल में ही घर-परिवार को छोड़कर वे प्रव्रजित हो गए थे। फिर भी उनमें पुरंध्रिता एवं प्रजावात्सल्यवृत्ति पूर्णतः उदित थी। दोनों वृत्तियों का कारण कश्यपप्राण हैं। पुरंध्रिता प्रजा संतति का प्रतीक है। गुरुदेव तुलसी की प्रजा संतति (साधु-साध्वी संपदा) निरंतर विस्तार पाती गई और इसके साथ ही बढ़ता रहा उनका प्रजावात्सल्य। अपनी शिष्य संपदा का पालन वे माता की भांति मृदुल स्नेह और पिता की भांति अनुशासनात्मक अनुराग से करते थे। उनके मुखारविंद से शिष्यों के लिए अनेक बार यह सुनने को मिला कि 'अै आपणा टाबर है।' उनकी वत्सलता केवल शिष्य समुदाय तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उनके पास आने वाला हर व्यक्ति उनकी वत्सलता से अभिभूत हुए बिना नहीं रहता। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व का समय था। प्रेक्षाध्यान साधना के लिए जापान से आया हुआ एक दल त्रिदिवसीय प्रवास के बाद वापस लौट रहा था। उस दल की कतिपय महिला सदस्याएं सुबक-सुबक कर रो रही थीं। मुमुक्षु बहनों ने उनसे पूछा—'आप तो हिंदी भाषा भी नहीं जानतीं। गुरुदेव

तुलसी को तो आपने मध्यस्थ के द्वारा ही सुना, जाना और पहचाना है। फिर क्या कारण है कि इनसे लगाव महसूस कर रही हैं और रो रही हैं?' उन जापानी महिलाओं ने उत्तर दिया—'बेशक' हम आचार्य तुलसी की भाषा हिंदी नहीं समझतीं, किंतु उनके नेत्रों से झरते वात्सल्य की भाषा हमारा हृदय जरूर महसूस करता रहा है, और उसी ने हमें बांध लिया है।'

विश्वामित्रप्राण से आयु-स्वरूपरक्षा तथा दृढ़ता का उदय होता है। गुरुदेव तुलसी का विश्वामित्रप्राण भी पूर्णतः उजागर था। आयु वार्धक्य का प्रभाव उनके कार्य पर नजर नहीं आता था। 80 वर्ष की वय में भी 25 वर्ष के युवा का-सा उत्साह देखने को मिलता था। उम्र के साथ सामर्थ्य-क्षीणता उनमें कहीं परिलक्षित नहीं होती थी। उनका शारीरिक सौष्ठव, शारीरिक संरचना व शारीरिक-मानसिक दृढ़ता का आयु वार्धक्य के साथ रंच-मात्र भी क्षरण नहीं हुआ।

भृगुप्राण से विद्या-प्रवणता का आविर्भाव होता है। गुरुदेव तुलसी में अनेक विद्याओं का संगम था। पराविद्या के साथ-साथ उन्हें अपराविद्याएं भी प्राप्त थीं। विद्याएं चार बताई गई हैं—'आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दंडनीतिश्च शास्वती' मनु ने पांचवीं आत्मविद्या का उल्लेख किया है। उल्लेखनीय है कि इन चारों विद्याओं के साथ-साथ आत्म-विद्या अर्थात् अध्यात्म विद्या भी उन्हें आत्मसात थी।

आत्मविद्या ने उनकी करुणा को विस्तार दिया। जब-जब उन्होंने मानव को कठिनाइयों से घिरा पाया, तब-तब उन्होंने समाधान सुझाया। उनके सुझाए समाधान व्यक्ति-चेतना की भूमिका पर पुष्पित-पल्लवित होते हुए विश्वात्मा को सुवासित करते रहे हैं।

आज सारी दुनिया जिस आतंकवाद की समस्या से ग्रस्त और त्रस्त है उसके मूल कारण हैं—धर्मांधता, किसी एक महाशक्ति की संप्रभुतावादी मनोवृत्ति, समर्थ व्यक्ति या समुदाय द्वारा असमर्थ व्यक्ति या समुदाय का शोषण। इनकी जड़ पर प्रहार करने वाला आंदोलन 'अणुव्रत' गुरुदेव तुलसी का अप्रतिम अवदान है। पर्यावरण की समस्या, अप्रामाणिकता और समाज में व्याप्त अनेक कुरूढ़ियों का निवारण भी अणुव्रत आंदोलन का एक आयाम है। तनावों से घिरे मानव मन में छाए अंधकार को दूर कर ज्योतिर्मय समाज का निर्माण करने के लिए आपने प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया। शिक्षा पद्धति की अपूर्णता को दूर कर संपूर्ण व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में क्रांतिकारी कदम है—जीवन विज्ञान। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान गुरुदेव तुलसी की परोपकार वृत्ति के परिणाम हैं। परोपकार वृत्ति जागृत होती है—अगस्त्यप्राण से। गुरुदेव तुलसी का अगस्त्यप्राण प्रबलता को प्राप्त कर दुनिया को अविस्मरणीय सौगात दे गया।

मरीचिप्राण से स्वभाव में मार्दव का उदय होता है। गुरुदेव तुलसी का स्वभाव अत्यंत मृदु था। इतने बड़े धर्मसंघ का शास्ता-पद, इतने प्रबुद्ध शिष्यों का समर्पण और लाखों भक्तों की प्रणति पाकर भी उन्हें अहंकार छू तक नहीं गया था। मानवता के प्रति समर्पित उनके जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं घटीं, जब उनकी अहंकारक शून्यता का परिचय मिला।

प्रतीत होता है कि मृदुता के मजबूत कदमों से ही गुरुदेव ने महानता की शिखर-यात्रा की होगी। प्राणों का यह ज्योतिर्मय स्पंदन महाप्राण गुरुदेव के जीवन में आदि से अंत तक व्याप्त रहा और गुरुदेव ने अपने प्रबल प्रताप से अनेक प्राणों को अनुप्राणित भी किया।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि आचार्य तुलसी के लिए 'महाप्राण गुरुदेव' संबोधन सर्वथा समीचीन है। इससे 'महाप्राण' की अर्थवत्ता भी स्पष्ट होती है। ❖

सत्य के पालन से हमारा तेज बढ़ता है, चारित्र्य उन्नत होता है, सत्य से धैर्य की सिद्धि होती है। जिसके पास सत्य है, उसका धीरज कभी खत्म नहीं होता और सत्य से जो आंतरिक संतोष मिलता है, उसकी बराबरी कर सकने वाली कोई दूसरी चीज दुनिया में है ही नहीं।

—काका कालेलकर

आप उसे देख रहे हैं, वह किस तरह चल रहा है? मैंने आपसे बताया न, इसके सिर पर बोझ है। मानो अनगिन आत्माओं का बोझ, जिसे यह न तो ढो सकता है, न कहीं उतार कर मुक्त हो सकता है। मैंने शायद आपको यह भी बताया था कि यह एक अलग ही किस्म का इंटैलैक्चुअल है। जरा आदर्शवादी किस्म का। तो उसकी भी एक कहानी है।

बुद्धिजीवी

❑ रमेशचंद्र शाह

वह आ रहा है। रोज दोपहर बारह और एक बजे के बीच उसे इस पगडंडी पर देखा जा सकता है। आइए, आप भी देखिए उसे। लगातार देखिए इस तरह, कि कहीं उसे मालूम न पड़ जाए कि कोई उसे देख रहा है। नहीं तो जो मैं आपको दिखाना चाह रहा हूं, वह आप नहीं देख सकेंगे। कुछ और ही देखने लगेंगे जो कि 'वह' नहीं होगा। और यह उसके प्रति—उससे भी ज्यादा मेरे प्रति—अन्याय होगा। हालांकि इतना आप जान लें कि वह मेरा कोई नहीं है।

आप उसे गौर से देखिए मगर भूलकर भी उसके निकट न जाइए। आप उसे इस चिलकती धूप की तरह चारों ओर से घेर लीजिए। हर कोण से उसका मुआयना कीजिए। भूल जाइए थोड़ी देर को कि आप मनुष्य हैं। आप थोड़ी देर को आकाश की आंख उधार ले लीजिए। देखिए ना, कितनी सारी धूल उड़ रही है मगर आकाश की आंखें नम हैं। जी हां, आकाश की आंखें भी।

आप उसे देख रहे हैं न?....वह जो आमों के झुरमुट में ऊपर की ओर मुंह उठाये खड़ा है! जी हां, वो देखिए उसने एक कोंपल तोड़ ली और बड़े प्यार से उसे निहारा, सहलाया और डंठल समेत उसे चाब गया। लीजिए वह वहीं तने से टिककर बैठ गया है और मुस्कराए ही जा रहा है। बताइए, क्या आपने कभी ऐसी मुस्कराहट देखी है?....वह क्यों मुस्करा रहा होगा, आप सोच रहे हैं न? कोई फायदा नहीं इस तरह सोचने से। उसके किसी भी काम का कोई कारण नहीं होता।

देखिए, उसके चारों ओर गायें और भैंसें छंहा रही हैं।....और वह उनसे घिरा हुआ उनको देख रहा है। नहीं। दरअसल वह उनको नहीं, अपने को देख रहा है। आप जरा गौर से उसके देखने को तो देखिए।

उसने मुझसे एक बार कहा था—'आपकी तरह मैं कुत्ता नहीं पाल सकता। मगर मैं जानता हूं कि आदमी कुत्ता क्यों पालता है। दरअसल आदमी का एक अकेलापन ऐसा होता है, जिसे आदमी नहीं बांट सकता। केवल पशु, केवल पशु ही बांट सकता है।'

उसका बोलना कुछ इसी तरह का होता है। अजीब और रहस्यमय। मेरी समझ में उसकी बात नहीं आई थी। मैंने उससे कहा भी था।

'आप नहीं जानते।' उसी निस्संग लहजे में बोलता चला गया था वह—'जरूरी नहीं कि हम अपनी अंतरंग वास्तविकताओं को साफ-साफ, सही-सही जान ही लें। जानने से तकलीफ हो सकती है। न जानने से कोई नुकसान नहीं होता। आप जी कर भी नहीं जानते—इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं न जी कर भी जानता हूं। क्योंकि मैं जान कर ही जी सकता हूं। जानने में ही जी सकता हूं।'

'क्या आप यह समझते हैं कि आपका इस कुत्ते से महज इतना ही संबंध है कि वह आपके मकान की हिफाजत करता है?' उसका स्वर एकाएक अतिरिक्त रूप से उत्तेजित और सुदूर लगा था मुझे! 'यह हददरजे की आत्मप्रवंचना है। सचाई तो यह है कि वह वस्तुतः आपके उस अकेलेपन की रखवाली कर रहा है। वह पशु है और आप पर कोई अधिकार नहीं जताता, कोई अपेक्षा नहीं करता। आपका उससे चाहे जितना लगाव हो, उसे आपसे चाहे जितना मोह हो, आप आश्वस्त हैं कि वह कभी आपकी चेतना को रौंद नहीं सकता। कभी आपके स्नायुओं पर रेंग नहीं सकता।

उसका होना किसी भी तरह से आपके होने को बाधित नहीं करता। किसी भी तरह का समझौता नहीं मांगता। बोलिए, क्या मनुष्य का प्यार आपको ऐसी मुक्ति, ऐसी छूट दे सकता है?'

मुझे लगा वह मुझे खामखाह उकसाना चाह रहा है। जबकि वह जानता है कि मुझे उकसाना इतना आसान नहीं है। तो भी वह लगातार घंटे-भर तक अपनी ही रौ में बोलता चला गया था और मैं चुपचाप झेलता रहा था। बाद में उसके चले जाने पर मुझे लगा था कि मेरी नीयत ठीक नहीं थी। मैं तमाम वक्त उसकी बातों का इस्तेमाल उसके विरुद्ध करता रहा हूं। मुझे महेन्द्र सक्सेना ने बताया था कि वह आदमी विवाहित है किंतु इसे इसकी पत्नी ने छोड़ रखा है। इसके झक्कीपन से तंग आकर वह अपने मायके ही रहती है। तो मैं तमाम वक्त अपने पूर्वग्रह की पीठ ही ठोंकता रहा था।

जी हां, मैं जानता हूं, आप क्या पूछना चाह रहे हैं। आपको मैंने शुरू में ही बताया न, कि यह मेरा कोई नहीं है। मगर आप पूछ ही रहे हैं तो मैं इतना और बता दूं कि यह और मैं एक ही स्कूल में पढ़ाते हैं और एक ही मकान में—आजू-बाजू रहते हैं। मगर यकीन मानिए, इस संयोग का मेरी इस कहानी से कोई वास्ता नहीं है।

वह देखिए.... वह एकाएक चौंककर खड़ा हो गया है। और अपना पोर्टफोलियो उठाकर फिर से रास्ते पर आ गया है। वह चल रहा है। सच बताइए, क्या आपने कभी किसी आदमी को इस तरह चलते देखा है? आप केवल दस मिनट इसको चलते देखें जरा ध्यान से, तो आपको लगेगा, इसने कम से कम पांच दफे अपनी चाल बदली है। .....यह इतना अस्थिर और अनिश्चित है....मुझे लगता है, इसका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है....इसके अंदर कम से कम पांच व्यक्तियों की भीड़ है, जिनमें से प्रत्येक अपनी चाल चलना चाहता है। हां, कभी-कभार जरूर मुझे ऐसा लगा है जैसे इसने पांचों को एक सीध में 'फॉल इन' करा दिया हो जबरदस्ती, और खुद दूर खड़ा उनकी परेड करा रहा हो! मजा ले रहा हो उस दृश्य का।

अभी यह कैसी मस्ती में चल रहा है। हाथ-पैर फेंकता हुआ चारों तरफ, जैसे चल नहीं, तैर रहा हो। यह लीजिए, उसने झुककर घासफूलों की लतर उखाड़ ली है और उसको देख-देखकर खुश हो रहा है। और अब वह खेतों की मेड़ वाले रास्ते पर आ गया है। लीजिए, महाशय लटकते-लटकते एकदम निश्चल खड़े हो गए हैं उसी बबूल तले....और गेहूं को लहर लेते देख रहे हैं। जी हां। यह इनका पुराना खब्त है। मैंने इन्हें पचीसों बार इस तरह खड़े देखा है और मैं इनके खड़े होने के ढंग से ही बता सकता हूं कि ये अभी चल देंगे या वहीं जम जाएंगे। इतना ही नहीं, मैं इन्हें देखकर दूर से ही यह भी अनुमान लगा सकता हूं कि यदि ये बैठे तो कितनी देर बैठे रहेंगे।

लीजिए, आप फिर शंकित हो गए हैं। ईश्वर के लिए अपनी समझ को चुप रखिए और मेरी समझ से काम लीजिए। मेरी समझ से अपनी समझ को एक कर दीजिए। थोड़ी देर के लिए।

जी हां, आप यही समझ लीजिए कि मैं आज एक बरस से इस आदमी की गतिविधियों का पीछा कर रहा हूं। मैंने आपको बताया ना कि यह मेरा पड़ोसी भी है। हालांकि इतना और बता दूं कि पूरे साल-भर में कुल जमा चार बार यह मेरे घर आया है और मैं भी मुश्किल से आठ-दस बार इसके कमरे में बैठा हूंगा।

जी नहीं! आप गलत समझ रहे हैं। यह आदमी असामाजिक कतई नहीं है। यकीन मानिए, यह भी आपकी ही तरह गपशप में रस लेने वाला, खुलकर कहकहे लगाने वाला प्राणी है। आप कभी हमारे स्टाफ-रूम में हमजोलियों के बीच इसकी हरकतों पर गौर करें तो आप इसे विदूषक ही मान बैठेंगे जबकि यह बुद्धिजीवी है। जी हां, इन्टैलैक्चुअल। खैर जाने दीजिए, इससे आपको क्या!

मुझे उसने कभी कुछ बतलाया नहीं—उसे अपने बारे में बात करने की आदत बिल्कुल ही नहीं है। न वह किसी के व्यक्तिगत मामलों में ही खामखाह रुचि लेता है। मेरा भी उससे कभी पूछ-ताछ करने का साहस नहीं हुआ, हालांकि वह सेंट जेवियर्स कालेज में प्रोफेसर रह चुका है, यह सही बात है क्योंकि उसका एक पुराना लेटर-पैड मेरी निगाह में पड़ गया था। इसके बाद एक दिन मैंने उससे इतना जरूर पूछा था कि वह इतने बड़े कालेज की नौकरी छोड़कर साक्षरता अभियान के तहत चलाए जा रहे इस देहाती स्कूल में क्यों आ फंसा? तो उसने जवाब में यही कहा था, 'मैं वहां बहुत बोर हो गया था। प्रोफेसरी से मुझे घृणा हो गई थी। बहुत ही कृत्रिम और सुरक्षित जीवन था वह।'

शायद मेरी हंसी में निहित शंका को वह ताड़ गया था। और तुरंत बाद ही उसने जोड़ा था, 'हालांकि यहां भी

क्या फर्क पड़ गया? ये भी तो एक शगल ही है तथाकथित समाजसेवी बुद्धिजीवियों का। बहरहाल मुझे देहात पसंद है। कम से कम फिलहाल तो ऐसा ही है।' फिर थोड़ा मुस्कराकर उसने कहा था, 'बात यह है भाई, कि एक नरक में रहते-रहते आदमी ऊब जाता है और दूसरा नरक तलाशने लगता है। चेंज जैसा भी हो, अच्छा ही लगता है। क्यों है ना?'.... 'मैं क्या जानूं? मेरा तो पहला ही—और शायद आखिरी भी—नरक यही है'—मैंने जवाब दिया था और वह ठहाके मारकर हंस पड़ा था। उसकी यही आदत थी। मगर मैं जानता था। जानने लग गया था उसे। उसके ठहाकों से बाद-बाद में मुझे एक अजीब डर-सा लगने लगा था।

शुरू-शुरू में मेरी इच्छा जरूर होती थी उसके कमरे में जाने की। ऊंचे शिखर की हवा की तरह उसका साथ मुझे स्फूर्ति और उत्साह से भर देता था। स्वाभाविक था कि मैं अधिक से अधिक उसके साहचर्य की अपेक्षा रखता। मगर जाने क्या बात थी कि उसके कमरे की ओर बढ़ते हुए एक अजीब संकोच मुझे घेर लेता था। अक्सर चबूतरे पर टहलता-टहलता मैं उसकी ओर निकल जाता, जानबूझकर, कि वह देखेगा और भीतर आने को कहेगा। उसकी खिड़की तखत से लगी हुई थी और वह घंटों उसी तखत पर जमा रहता था—पढ़ता-लिखता या चुपचाप कुछ सोचता हुआ। जाहिर था कि वह मुझे देखकर भी अनदेखा करता था। हालांकि मैं जानता था कि यदि मैं उसका दरवाजा खटखटाऊं तो वह खुशी से मेरा स्वागत करेगा। किंतु जैसे उसका यह खुलापन ही उसका कवच था, जिसे नजदीक जाकर भेदना मेरे बस की बात नहीं थी। जाने कितनी बार उसके दरवाजे पर दस्तक देते-देते रह गया था मैं, जैसे सचमुच उसने कोई जादुई रेखा खींच रखी हो, जिसे लांघना असंभव हो। पहले-पहले मुझे बड़ा अजीब लगा था। पर फिर धीरे-धीरे मैं इसका अभ्यस्त हो गया था और मेरे मन ने स्वीकार लिया था कि यही सम्यक् स्थिति है।

क्या आपका ध्यान उचट रहा है? मैं पूछता हूं कि क्या आप उसे देख रहे हैं? वह वहीं बैठा है—बबूल की जड़ में, रास्ते से हटकर थोड़ा नीचे। एकदम गेहूं के खेत के पास। यह उसका प्रिय विश्रामस्थल है। एकाएक किसी की निगाह नहीं पड़ सकती उस पर। राह चलते राहगीर भी, बिना उसकी उपस्थिति का तनिक भी आभास पाए, उसके सिर पर से गुजर जाते हैं। आप तो देख ही रहे हैं, आधे घंटे से वह उसी मुद्रा में, उसी तरह कोहनी के बल लेटा हुआ है। निश्चल, समाधिस्थ-सा।

लीजिए, वह उठ भी गया और फिर रास्ते पर आ गया। जी हां! यह वही आदमी है, जिसे आपने अभी-अभी तैरते और उछलते देखा था। इस वक्त वह ऐसे चल—नहीं, घिसट रहा है, जैसे इसके सिर पर मन-भर का बोझ रखा हो। शायद आपके लिए यह एक नया अनुभव हो क्योंकि बोझ भी आपको वही दीख सकता है, जो आपके अनुभव में बोझ करके जाना जा सकता है।

बुरा मत मानिएगा। मुझे मालूम है, आप सज्जन हैं। परदुखकातर भी हैं, अपने ढंग से। और सच मानिए, मैं भी आप जैसा ही हूं। मैं जिस बोझ की बात करने लगा हूं, उसे मैंने भी कभी नहीं ढोया। पर एक संयोग ही समझिए कि मैं पड़ोसी हूं, इस अजीबोगरीब आदमी का। और पड़ोसी को कुछ न कुछ चीजें मालूम पड़ ही जाती हैं। यह कोई खास बात नहीं है।

उस दिन भरी दोपहर इसने मेरे दरवाजे पर दस्तक दी। एक अजीब-सी चमक इसके चेहरे पर उस दिन मैंने देखी, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। आज भी मेरी आंखों के सामने इसका वह चेहरा मूर्तिमान हो उठता है।

यह आकर आरामकुर्सी पर पसर गया और कुछ देर बड़े गौर से मेरे चेहरे को पढ़ता रहा। उसका यों अचानक आ टपकना—महीनों बाद—मेरे लिए कुछ इस कदर अप्रत्याशित था कि मैं कुछ समझ ही नहीं पा रहा था कि क्या करूं। तभी मुझे सुनाई दिया—'मि. शुक्ला! आप जानते हैं, आदमी तलाक क्यों चाहता है?'

मैं मूर्ख की तरह उसे ताकता रहा। उसी ने फिर कहा, 'आपने वह पढ़ा है—भयो क्यों अनचाहत को संग?'

'पढ़ा है' मैंने संक्षिप्त उत्तर दे दिया। मुझे वह बहकता लगा।

वह बोला, 'मेरा एक बहुत ही अजीज दोस्त था। जीवन में वैसी दोस्ती मेरी न किसी से हुई और न होगी। उसका विवाह हुआ और विवाह के तत्काल बाद ही उसके सामने स्पष्ट हो गया कि उसने विवाह करके भयंकर भूल की है। जिंदगी कभी-कभी बड़े अजीब गुल खिलाती है। अब मैं आपको क्या बताऊं, वे दोनों ही अपनी-अपनी जगह सही थे और दोनों से मेरे घनिष्ठ संबंध थे। दोनों की अपनी-अपनी निजी विलक्षणताएं थीं, जो किसी को भी आकृष्ट किए बिना नहीं रह सकती थीं। कौन जानता था कि वे एक-दूसरे के लिए घातक सिद्ध होंगे। मगर वही हुआ, जो होना था। शादी

को साल-भर भी नहीं बीता था कि मुझे लगा, अब उनका साथ रहना ही अनिष्ट होगा। उनमें से एक की जान चली जाएगी—कदाचित मेरे मित्र की ही। मुझसे उनकी सांसत नहीं देखी गई। मैंने उसकी पत्नी से कहा, 'तुम इसको तलाक दे दो। वह तो दे नहीं सकता। तुम ही दे दो।'

'इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं था। मैं जानता था कि मेरा मित्र स्त्रीविहीन जीवन नहीं जी सकता। जबकि वह महिला पुरुषविहीन जीवन जी सकती थी और बखूबी जी सकती थी। दरअसल ट्रेजडी यही थी। उस महिला के लिए विवाह अनावश्यक था। मेरा मित्र ही क्यों, कोई भी पुरुष उसके लिए अनिवार्य नहीं हो सकता था। उसकी मानसिक संरचना ही ऐसी थी। एकदम सूखी-ठंडी और निरावेग। दोनों की दुनिया एक-दूसरे से बिल्कुल अलग थी। ऐक्य उनमें संभव था ही नहीं। मगर नियति ने दोनों को एक-दूसरे से बांध दिया था और अब दोनों ही बुरी तरह छटपटा रहे थे। आप कहेंगे ऐसा ही था तो पहले क्यों नहीं देख-समझ लिया था। जान-बूझ कर अंधेरे में छलांग लगाने की क्या जरूरत थी! मगर यह सब बेकार की बातें हैं। कहना आसान है। जो भुगतता है, वही जानता है। और तभी जानता है, जब भुगत चुका होता है। तभी जानता है, जब उस जानने का कोई उपयोग नहीं हो सकता। यों भी आप जानते हैं, ऐसे मामलों में न तो कोई जानकार होता है, न बुद्धिमान। सब एक जैसे ही होते हैं। बल्कि जो जितना गहरा होता है, वह उतना ही उथले पटका जाता है। बहरहाल इस सांसत से दोनों को उबारने का और कोई मार्ग नहीं था, सिवा इसके कि मेरा मित्र नए सिरे से जिंदगी शुरू करे और वह महिला भी दाम्पत्य-मात्र से हमेशा के लिए उबार ली जाय, क्योंकि वह अपने-आप में पूरी-समूची थी और अकेली जिंदगी ही उसके लिए सही जिंदगी थी। किसी की अर्द्धांगिनी होकर रहना उसके बस की बात नहीं थी। विधाता ने उसे बनाया ही कुछ इस तरह था।'

'खैर, उस बात को साल-भर से भी ऊपर हो गया। तलाक को भी। अब जबकि वह समय निकट आ गया है कि मेरा मित्र अपनी दूसरी जिंदगी शुरू करता, आज ही मुझे उसका एक पत्र मिला है, जिसने मुझे हैरत में डाल दिया है। वह लिखता है कि उसने दूसरे विवाह का विचार ही मन से निकाल दिया है। इतना ही नहीं, वह अब इस निश्चय पर पहुंच चुका है कि तलाक अनावश्यक है क्योंकि अब वह जान गया है कि अपनी व्यक्तिगत अपेक्षाओं और प्रत्याशाओं से उबरकर ही सही जीवन शुरू किया जा सकता है और वस्तुतः उसे खोज सुख की नहीं, सार्थकता की है। अब वह साफ-साफ महसूस करता है कि यही खोज, उसकी पत्नी की भी थी, जिसे कि वह समझ नहीं पाया था। और इसके लिए तलाक का सहारा लेने की आवश्यकता दोनों में से किसी को भी नहीं थी। 'दाम्पत्य, चाहे वह सुखी हो, चाहे दुखी—व्यक्ति की सबसे बड़ी कसौटी है'—वह लिखता है—'और उससे भागकर फिर से नई जिंदगी शुरू करने की बात सिर्फ एक कच्चे और उथले दिमाग में ही आ सकती है। ऐसी तृष्णा केवल एक आत्मप्रवंचना-भर है। और कुछ नहीं।'

'मैं जानता हूं शुक्ला', वह एकाएक आवेश में आकर चीख पड़ा था, 'मुझे अच्छी तरह मालूम है कि यह उसका दृढ़ निश्चय है और अब उसने अपने भीतर ऐसी मजबूती पा ली है कि वह टूट नहीं सकता। कहीं से भी। मैं आपसे कह रहा हूं, आप देखिएगा कि यही होगा। तलाक वापस ले लिया जाएगा और बहुत संभव है कि वे दोनों पारस्परिक संबंधों का एक नया धरातल पा जाएं और अपने उस खौफनाक अतीत से उबर आएं। बहुत संभव है, मिस्टर शुक्ला! मनुष्य बड़ा विचित्र प्राणी है। अत्यंत रहस्यमय। वह कुछ भी कर सकता है। वह सब-कुछ से उबर सकता है। मैं उस महिला को जानता हूं शुक्ला! मुझे उस पर विश्वास है। मुझसे ज्यादा इस बात को कोई नहीं जान सकता कि वे दोनों अब एक-दूसरे को नए सिरे से जानना शुरू करेंगे। एक-दूसरे के प्रति वास्तविक आदर और सहानुभूति उनके भीतर जागेगी और वे अब सचमुच एक-दूसरे को स्वतंत्र कर सकेंगे। रक्षा कर सकेंगे एक-दूसरे के स्वातन्त्र्य की। क्या यह असंभव है शुक्ला? आप क्या सोचते हैं?'

उसकी उस लंबी वक्तृता के उत्तर में मैंने केवल इतना ही कहा, 'राव साहब! ऐसा तो कहानियों में ही हो सकता है, जीवन में नहीं। कम से कम मैं तो ऐसा ही समझता हूं'....मगर कहने के साथ ही मुझे महसूस हुआ कि मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। बलात मुस्कराने की चेष्टा करते हुए उसके होंठ अजीब तरह से विकृत हो आए थे। मुझे लगा, मेरी बात से वह अपने भीतर-ही-भीतर बुरी तरह ऐंठ गया है। मुझे अपने उतावलेपन पर ग्लानि हो आई। एकाएक वह उठा और बिना एक भी शब्द बोले कमरे से बाहर निकल गया। मुझे इतना भी साहस न हुआ कि उसे रोक लूं। वो दिन है और आज का दिन है, उसने मेरे घर

झांका तक नहीं। हालांकि व्यवहार उसका मेरे प्रति पूर्ववत् ही रहा। नाराजी का कोई लक्षण तक नहीं। क्योंकि उसके दूसरे ही दिन हम स्कूल से साथ-साथ घर लौटे थे और उसके बाद मैंने उसी के घर पर चाय पी थी। कौन जाने, वह कहानी थी कि आप बीती?

आप उसे देख रहे हैं, वह किस तरह चल रहा है? मैंने आपसे बताया न, इसके सिर पर बोझ है। मानो अनगिन आत्माओं का बोझ, जिसे यह न तो ढो सकता है, न कहीं उतार कर मुक्त हो सकता है। मैंने शायद आपको यह भी बताया था कि यह एक अलग ही किस्म का इंटैलैक्चुअल है। जरा आदर्शवादी किस्म का। तो उसकी भी एक कहानी है।

हुआ यह कि एक दिन स्कूल से लौटकर मैं अपने कमरे की ओर बढ़ा, तो इसने एकाएक मुझे बांह पकड़कर खींच लिया—'आइए, आपको एक कहानी पढ़वाऊं। आप भी क्या कहेंगे।'

'तो क्या आप कहानी भी लिखते है?' मैंने आश्चर्य में भरकर पूछा।

बिना मेरी बात का जवाब दिए यह मुझे अपने कमरे में ले गया और आलमारी से एक पत्रिका निकालकर मेरे सामने पटक दी। मुझे बड़ी निराशा हुई क्योंकि वह अंग्रेजी की पत्रिका थी, जिसका नाम मैंने यूनिवर्सिटी में पढ़ते हुए कभी सुना था। काफी आतंक भी था मेरे मन पर उस नाम का और केवल एक बार ही होस्टल की लायब्रेरी में उसके पृष्ठ पलटे थे मैंने। डरते-डरते। और समझ लिया था कि यह बहुत ऊंचे किस्म के लोगों के लिए है, अपने लिए नहीं है। हालांकि एक दिन जब इसने बातों-बातों में इसकी चर्चा की थी, तो मुझसे नहीं रहा गया था और मैंने यों ही झूठ-मूठ इससे कह दिया था कि मैं इलाहाबाद के दिनों में नियमित रूप से 'एनकाउण्टर' खरीद कर पढ़ा करता था और वे प्रतियां फाइलबद्ध अब भी मेरे घर में सुरक्षित रखी हुई हैं।

इसने पत्रिका खोलकर एक कहानी मेरे सम्मुख धर दी। 'रैकनिंग'।....हां, यही तो शीर्षक था उस कहानी का। लेखक का नाम तो अब मुझे याद नहीं रहा। मगर इतना जरूर याद है कि किसी हंगेरियन लेखक की कहानी थी वह।

मेरी परेशानी इसने बहुत जल्दी भांप ली और कहा, 'क्या बताऊं बंधु! ऐसी चीजें क्या कभी अपने यहां भी देखने को मिलेंगी? कितना बड़ा बोझ उतरा होगा कथाकार के सिर पर से इस कहानी को लिखकर! आप कल्पना कर सकते हैं?' फिर एकाएक मेरे हाथ से पत्रिका छीनकर बोला, 'बंधु! आप थोड़ा 'आउट आव टच' हो गए हैं। क्या किया जाय, यह जगह ही ऐसी है....। लाइए, हम और आप इसे साथ-साथ पढ़ ही डालें। शायद आपके साथ पढ़ने में कुछ और हाथ आ जाय। यों तो पढ़ ही चुका हूं तीनेक बार। मगर ऐसी चीजों से कभी किसी का मन भरा है?'.

....और इसने तीन-चार घंटे लगाकर वह कहानी मुझे पढ़वाई। मेरी स्मृति तो खैर, मेरी बुद्धि की तरह ही कुंद है। मगर उस कहानी की चोट आज भी मेरे दिमाग पर ज्यों की त्यों है। उसमें एक प्रोफेसर होता है, जो नाजियों की गिरफ्त से बचता-बचता अंततः खतरे से बाहर—सीमा पार के सुरक्षित क्षेत्र में बस, दाखिल हुआ ही चाहता है। मगर....तभी उसका दिमाग पलटा खा जाता है। उसकी आंखों के आगे वे लाखों निर्दोष छा जाते हैं जो भागकर नहीं बच सकते। इस बोध के डंक से तिलमिला कर वह आसन्न मुक्ति को ठुकराकर उस यातना और मृत्यु का वरण करता है जो नाजियों के हाथ पड़ जाने पर तय है। इस तरह वह एक सर्वथा मौलिक प्रतिशोध लेता है—मनुष्य की सारी अमानुषिकता के विरुद्ध।....

कहानी सुनाकर यह चुप हो गया। बड़ी देर तक हम दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। फिर एकाएक जैसे नींद से जागकर उसने कहा, 'मिस्टर शुक्ला! आपको मालूम है, मैं पहले कहानियां लिखा करता था?' मैं कुछ कहूं, इससे पूर्व ही वह बोला—'मगर जिस दिन मैंने नाजी नरमेध का एक वृत्तांत इसी 'एनकाउण्टर' में पढ़ा—कोई तीनेक साल पहले की बात होगी—मुझे ऐसा धक्का लगा कि मैं आज तक नहीं समझ पाता कि यह सब जानने के बाद कोई भी कैसे कहानी लिखता रह सकता है?'

मुझे खूब अच्छी तरह याद है, यहीं पर मैंने उसे टोक दिया था—'आप भी भाई साहब! कभी-कभी ऐसी बात कर जाते हैं कि क्या कहा जाय, कुछ समझ ही नहीं पड़ती। अब आप यह मांग करें कि 'रैकनिंग' कहानी यहां क्यों नहीं लिखी जाती, तो यह तो बड़ी विचित्र-सी बात है। उनकी परिस्थितियां बिल्कुल दूसरी हैं। हम उनकी तरह लिख ही कैसे सकते हैं और लिखेंगे भी तो क्या वह निरा झूठ न होगा? नरमेध पहले भी होते रहे हैं; आगे भी होते रहेंगे। ऐसा तो हमने कभी सुना नहीं कि सात समंदर पार कोई कांड हुआ हो और उसे जानकर किसी

का लिखना ही रुक गया हो। आपने कहानियां लिखना बंद कर दिया, इसकी यह तो कोई वजह नहीं हुई। कम से कम मेरे पल्ले तो यह बात बिल्कुल नहीं पड़ती।'

उसने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा और हैरानी से मेरा मुंह ताकता रह गया। वो दिन था कि आज का दिन है, इसने भूलकर भी उस विषय की चर्चा मेरे सामने नहीं की। आप इसी से अनुमान लगा सकते हैं कि उसे कितनी तकलीफ हुई होगी। हालांकि बात मेरी ही सही थी और मैं समझता हूं आप भी उसकी बजाय मुझी से सहमत होंगे। मगर जैसा कि मैंने आप को पहले ही बता दिया, वह एक निहायत खब्ती किस्म का आदमी है। और ऐसा आदमी कब क्या कहेगा, करेगा, इसका कोई कुछ ठिकाना नहीं।

देखिए, वह टेकड़ी से नीचे उतर रहा है। नीचे नदी है। बस्ती को घेरकर बहने वाले इस गंदे नाले को यहां के लोग नदी कहते हैं। असल में पहले किसी जमाने में, सुनते हैं, इसमें काफी पानी रहता था। मगर जब से वो बांध बना, तब से इसकी मिट्टी पलीद है। खतरे के निशान से पानी कहीं बांध में ऊपर न चढ़ जाए, इसलिए फालतू पानी बहा दिया जाता है। वही यह 'नदी' है। इसमें भैंसें भी डूबी रहती हैं और आदमी-औरतें भी। ट्रक-जीप वाले भी अपनी गाड़ी को इसी में नहलाते हैं। फिर भी लगता यही है कि इसमें प्रवाह तो बिल्कुल है ही नहीं। कीचड़ की एक लकीर-भर यहां से वहां तक खिंची हुई है।

स्कूल जाने के लिए कच्चे रास्ते से रोज ही इस नाले को पार करना होता है। एक दिन जब हम दोनों स्कूल से लौट रहे थे, टेकड़ी पर से हमने देखा—दो छोटे-छोटे बच्चे नाले में नहा रहे हैं और एक-दूसरे पर पानी उछाल रहे हैं। यह कोई खास बात नहीं थी, रोजमर्रे का दृश्य था। मगर इसे जाने क्यों, उस दृश्य ने ऐसा बांधा कि यह चलते-चलते ठिठक गया। एकाएक गंभीर स्वर में बोला, 'शुक्ला! तबीयत होती है, मैं भी कपड़े खोल-खाल कर इसी कीचड़ में धंस जाऊं।....तुम नहा सकते हो इसमें?'

मैंने समझा मजाक कर रहा है। मैंने कहा, 'नहाते तो हैं रोज ही। जाने कितनी बार यह वैतरणी पार कर चुके हैं।'

इसका चेहरा और ज़्यादा लटक गया। अपने-आप को संबोधित कर रहा हो जैसे, इस तरह डूबी-डूबी आवाज में बोला, 'वैतरणी ऐसे पार नहीं की जाती शुक्ला! देखते नहीं हो यह रुंधा हुआ जीवन....यह सड़ांध....? हम कब तक अपनी इस कमीनी सुरक्षा से चिपटे रहेंगे?....आखिर कब तक? तुम नहाने की बात कर रहे हो। लुई पाश्चर ने....'

बीच ही में सहसा वह बुरी तरह चीख पड़ा। शायद बच्चों को चुल्लू भर-भर कर पानी पीते देखकर। क्या इसने पहले कभी नहीं देखा?....मुझे उसकी हरकत बड़ी नाटकीय लगी। मैंने उसका हाथ पकड़ा। कहा, 'चलिए भाई साहब, देर हो रही है।' वह मशीन की तरह आगे बढ़ा। एकाएक चिकने पत्थर से उसका पांव फिसला और वह गिर पड़ा। उसके सारे कपड़े कीच में लिथड़ गए। मैंने उसे उठाया और पानी लेकर कीच छुड़ाने की कोशिश करने लगा कि उसने मना कर दिया। बोला, 'रहने भी दो। घर पास ही तो है।' फिर किंचित् मुस्कराकर, 'अभी तो कपड़े ही खराब हुए हैं ना। और तो सब-कुछ सही-सलामत है। खाल तक भी मुश्किल से पानी भिदा है साला!' मुझे उस दिन, जाने क्यों एकाएक डर-सा लग आया था इससे। अपरिचित, अजनबी-सा महसूस हुआ था यह मुझे थोड़ी देर को। जाने क्यों?

वो देखिए वह नाला पार कर रहा है धीरे-धीरे....। इतना धीरे-धीरे क्यों चल रहा है यह आज? टेकड़ी पर से मैं देख रहा हूं इसे और मुझे अजीब-सी घबराहट होने लगी है। क्या आप मेरी घबराहट को महसूस कर रहे हैं?—क्या आप इसको समझा सकते हैं?—नहीं? वो देखिए वह नाले के बीचों-बीच पत्थर पर खड़ा है। जाने क्या सोच रहा है! मुझे सचमुच बड़ी घबराहट होने लगी है। मुझे जल्द-से-जल्द उसके पास पहुंचना चाहिए। आप मेरी घबराहट को क्यों नहीं महसूस करते?....वह नाले के पार पहुंचा चाहता है और मैं अभी इस किनारे भी नहीं पहुंचा। मगर मैं उसका मित्र हूं। मुझे उससे डर लगने लगा है। मुझे लग रहा है, मैं कभी उस तक नहीं पहुंच पाऊंगा। क्या आप मेरी कोई मदद नहीं कर सकते? क्या आप सचमुच मेरी कोई मदद नहीं कर सकते....?

मगर देखिए वह पार हो गया है और बाईं तरफ मुड़ गया है। यहां से केवल सौ कदम के फासले पर उसका घर है। क्या सचमुच वह अपने घर पहुंच जाएगा? घर? मैं सचमुच नहीं जानता—कभी पूछने का मौका ही नहीं पड़ा इससे, कि तुम्हारा घर कहां है? आप ही बताइए, क्या ऐसा आदमी कभी भी घर पहुंच सकता है? मैं आप से पूछता हूं, क्या ऐसा आदमी कभी भी, कहीं भी पहुंच सकता है? ❖

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

राग मरुगंधा

•

कहीं तो फूटो

परमात्मा से भी अधिक बीहड़
यह सूना अकेलापन :
वह भी नहीं सह पाया,
इसे तोड़े बिना होना नहीं है।

किंतु तुम चुपचाप
अपने में लिए बैठे हो सारा ताप।
फूटो, कहीं तो फूटो
मुझमें
मुझे होने दो, मेरे बाप!

•

कहीं जल है, मां!

नहीं, तपती रेत ही तू नहीं है केवल
तुझमें कहीं जल है, मां!
कहीं गहरे जल
सिर्फ मेरे लिए संचित।

यह जल किस तृषा से उपजता है, मां!
खुद को जला कर भी
सींचती मुझको—
मैं जो रोहिड़ा ही सही
तेरा पूत हूं!

•

आत्मा के गर्भ में

चारों खूंट फैला
तप रहा मरुथल
आवें की तरह भीतर ही भीतर
क्या पकाता है?

बोलो, तुम्हीं कुछ बोलो,
प्रजापति!
मेरी आत्मा के गर्भ में
क्या धर दिया पकने
मेरे ही पसार के चाक पर घड़ कर?
ये आवां कभी तो खोलो,
प्रजापति!
मुझमें कभी तो हो लो!

•

वह एक समुद्र था

वह एक समुद्र था
फैलता और गहराता हुआ
मैं जिसमें निश्चिंत सोता था
क्योंकि तुम थे
नाव को खेते हुए।

कितनी लंबी थी
कितनी गहरी नींद!

नाव अब भी है
—रेत में धंसी,
नंगे बदन मैं भी हूं,
वह विस्तार जल का
यही जलता हुआ मरुथल है।
और तुम...
हां, ठीक ही तो है
जब जल ही नहीं तो
तुम कहां होते!

किंतु मुझमें जल रही यह आग
मुझको जलाएगी
फिर उठेंगे बादल
फिर बरसेगा जल
फिर बहेगी नाव अपरंपार में...
तुम्हें फिर अस्तित्व मैं दूंगा। ❖❖

शीलन

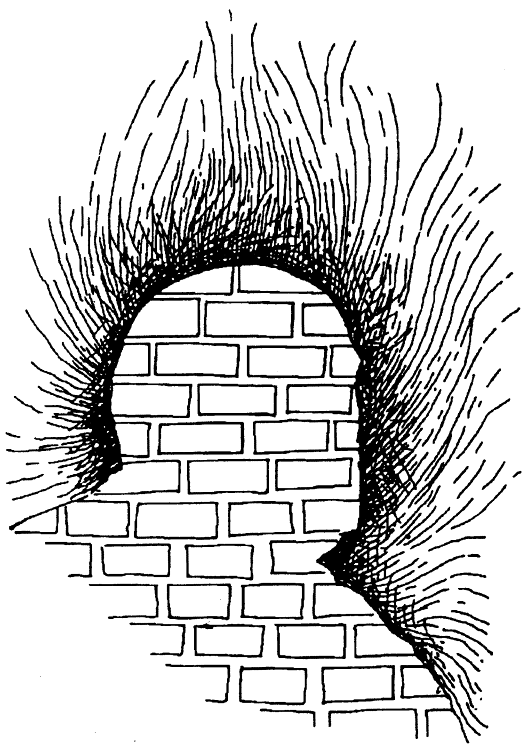

यदि मैं भी भूखा होता और अपने क्षुधा-पीड़ित लोगों के साथ रहता होता और ठुकराए गए अपने देशवासियों के साथ दुख भोगता तो मेरे अशांत सपनों में दुखभरे दिनों का बोझ कुछ हलका हो जाता और मेरी गड्ढे में धंसी आंखों, चीखते हुए हृदय और आहत आत्मा के सम्मुख रात्रि की गूढ़ता कुछ कम अंधकारमय हो जाती; क्योंकि वह, जो अपने देशवासियों के साथ दुख और यातनाएं भोगता है, एक महान आनंद का अनुभव करता है—ऐसा आनंद, जो आत्म-त्याग में कष्ट भोगने से ही प्राप्त हो सकता है और उसे वह आंतरिक शांति प्राप्त होती है, जो अपने अन्य निर्दोष भाइयों के साथ निर्दोष की मौत मरने में प्राप्त होती है।

—**खलील जिब्रान**

सामाजिक न्याय के नाम पर कितनी खोट होती रही है औपनिवेशिक इतिहास में और कितनी खोट है उस समता के सिद्धांत में जहां कुछ-न-कुछ लोग ऐसे रहते हैं, जो कुछ ज्यादा ही बराबर हैं। हम नहीं देखते कि मनुष्य का चरम मूल्य है स्वातंत्र्य, यदि वह नहीं जांचता कि अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था कितनी अच्छी है, केवल अपने लिए नहीं संपूर्ण जीवन के लिए, संपूर्ण सृष्टि के लिए और उसे जांचने की स्वतंत्रता नहीं रहती तो मनुष्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है, वह चेतन होते हुए भी जड़ हो जाता है।

संस्कृति की प्रासंगिकता

❑ विद्यानिवास मिश्र

भारतीय परंपरा की यह विलक्षणता है कि वह भारत में ओत-प्रोत होते हुए भी भारत तक ही सीमित नहीं है, वह किसी एक मजहब, ईश्वर की चुनी हुई किसी एक जाति, किसी एक तंत्र (राजनीतिक या आर्थिक) से बंधी नहीं है, उसमें अपने को भी अतिक्रमण करने की क्षमता है। उसका प्रसार यदि भारत के बाहर हुआ तो न राजनीतिक दबाव में हुआ, न आर्थिक कारणों से हुआ, न मजहबी जोश से हुआ; उसका प्रसार रोपे हुए धान के पौधे की तरह हुआ, जिसने अलग-अलग मिट्टी की अलग-अलग रंगत पाई। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है—राम-कथा। अलग-अलग जमीन में राम की कहानी उस जमीन की सोंधी गंध लेकर अलग-अलग रूप ग्रहण करती गई। राम जाने किन-किन देशों के विपिन-विहारी हो गए और सीता किन-किन देशों की नारी के लिए एक स्पृहणीय आदर्श हो गईं। राम की भारतीयता ही नहीं रही, वे विश्व-नागरिक हो गए। भारतीय परंपरा भी रामकथा की तरह किसी एक इतिहास या भूगोल की स्मृति से आबद्ध नहीं है, यह एक व्यापक मानवीय साझेदारी है, यह बिना किसी को कहीं से बिछुड़ाए, किसी भी प्रतिबद्धता से तोड़े, एक विशाल जुड़ाव है।

पर यहीं मैं एक पल रुकना चाहता हूं, मैं उस थोथे अभिमान से बहुत डरता हूं, जो कहता है कि एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

इस देश में पैदा हुए तपस्वी ऋषियों से पृथ्वीमात्र के मानव चरित्र की शिक्षा लें। मैं ठहरकर आत्मालोचन करना चाहता हूं कि हम स्वयं तो ऋषियों के तप से, उनकी खरी-सच्ची जीवन-दृष्टि से कुछ सीखना नहीं चाहते, हमारी सारी शिक्षा अपनी आवश्यकताओं और सुविधाओं का जाल बढ़ाने वाली पद्धति से हो रही है, एक उधार ली हुई जीवन-पद्धति में हुई है और हम चले हैं सिखाने दुनिया को वसुधैव कुटुंबकम् का भाव। कितना बड़ा ढोंग है यह? मैं आत्मदयावश यह नहीं कह रहा हूं, अपने भीतर विश्वास की कमी से भी ऐसा नहीं कहता, पर अपने लोगों की सबसे बड़ी कमजोरी की अनदेखी नहीं कर सकता, यह कमजोरी है आत्मविस्मृति। विगत दो शताब्दियों की यही विडंबना है, कभी शूमाखेर या फ्राम या त्सिमर हमारी संस्कृति की प्रासंगिकता की बात करके हमको गर्वस्फीत कर रहे हैं, कभी कोई दूसरा, परंतु अपने आप अपने को पहचानने की कोशिश हम नहीं कर पाते। हमारे पास न अपना पैमाना है, न दर्पण है, न अपनी तर्कबुद्धि है। हम अपने ही ऊपर सबसे अधिक अविश्वास करते हैं। हम या तो बिना जाने-समझे भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता की डींग हांक सकते हैं या बिना जाने-समझे इसकी हीनता और अनुपादेयता को कोसने में ही अपनी आधुनिकता प्रमाणित कर सकते हैं।

इस स्थिति में जब इस संस्कृति की प्रासंगिकता की बात करना चाहता हूं तो सबसे पहले यह कहना चाहता हूं कि अपने घर में पहले दिया जलाएं तब मस्जिद में, मंदिर में, गुरुद्वारे में जलाने की सोचें। हम अपने आज के जीवन में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों की प्रासंगिकता की बात सोचें।

भारतीय संस्कृति का विवेचन करते हुए प्रसिद्ध संस्कृतिवेत्ता गोविन्दचन्द्र पांडे ने एक बड़ी सटीक बात कही है कि 'यदि पश्चिम की रुझान मूर्त्त और व्यष्टि मानव को किसी अमूर्त्त बौद्धिक सिद्धांत की वेदी पर बलि देने की ओर है, वह सिद्धांत व्यक्ति-स्वातंत्र्य का हो या प्रकृति की यांत्रिकता का हो या यंत्र या यांत्रिक संस्थानों के रूप में शक्ति के विस्तार का हो और चीनी परंपरा की रुझान एक नैतिक और मनोरम क्षितिज के भीतर मानव जीवन की मूर्त्त अखंडता की रक्षा की ओर है तो भारतीय परंपरा की रुझान मनुष्य के भीतर अपने अतिक्रमण की संभावना और उस अतिक्रमण की आवश्यकता की प्रतीति जगाने की ओर है।'

भारतीय दृष्टि से न अकेले प्रकृति या उसके ऊर्जा स्रोत, न अकेले मानव समाज, मनुष्य की चिंता के एकांत विषय हो सकते हैं। बाह्य प्रकृति पर विजय की बात भी निरर्थक है, यदि उसके साथ अपनी प्रकृति पर विजय न हो। और सच पूछें तो विजय की बातें भी निरर्थक हैं, विजय केवल एक आलंकारिक शब्द है, बिंदु का सिंधु में मिलना और फिर उस सिंधु से बिंदु के रूप में उछलकर सिंधु को देखना, क्या बिंदु की विजयगाथा है या सिंधु की विजयगाथा है? जीतना-हारना तो आदिम संस्कारों से आए हुए शब्द हैं, असली बात है होना और होते रहने को सतत पहचानना। हम जो हैं, वह अपर्याप्त हैं, अधूरे हैं, हम सबके साथ ओत-प्रोत होकर सोचें, सांस लें, जिएं, भरपूर जिएं, रस लेकर जिएं, यह अनुभव करते हुए जिएं कि हम सबको रस देते हुए रस ले रहे हैं या हम स्वयं रस बनकर, स्वयं आस्वाद्य बनकर, स्वयं अन्न बनकर प्रस्तुत हो रहे हैं, न्यौत रहे हैं कि चर-अचर, स्थावर, जंगम, पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश, ग्रह-नक्षत्र सभी हमारा रस लें।

सामाजिक समरसता और नैतिकता की बात भी चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। जब तक व्यक्ति के हृदय का संवाद उसके साथ न हो, तब तक वह आरोपित रहेगी, तब तक उसमें सहज करुणा और विश्वव्यापी प्यार का भाव नहीं उमड़ेगा। भारतीय दर्शन आत्ममंथन-आत्मचिंतन पर इसी से बहुत बल देते हैं। कभी-कभी भ्रांतिवश लोग एक गलत चश्मे से देखते हुए यह मानने लगते हैं कि भारतीय संस्कृति निनैतिक है, असामाजिक है, उसमें सामाजिक न्याय के लिए कोई स्थान नहीं है। वे यह नहीं देखते कि सामाजिक न्याय के नाम पर कितनी खोट होती रही है औपनिवेशिक इतिहास में और कितनी खोट है उस समता के सिद्धांत में जहां कुछ-न-कुछ लोग ऐसे रहते हैं, जो कुछ ज्यादा ही बराबर हैं। हम नहीं देखते कि मनुष्य का चरम मूल्य है स्वातंत्र्य, यदि वह नहीं जांचता कि अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था कितनी अच्छी है, केवल अपने लिए नहीं संपूर्ण जीवन के लिए, संपूर्ण सृष्टि के लिए और उसे जांचने की स्वतंत्रता नहीं रहती तो मनुष्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है, वह चेतन होते हुए भी जड़ हो जाता है।

भारतीय दर्शन आत्मचिंतन को महत्त्व देते हैं, किसी सीमित अर्थ में नहीं, बल्कि एक व्यापक अर्थ में, जहां आत्मा पृथ्वी को अभिव्याप्त कर लेती है और मनुष्य साहस करके रह सकता है : 'भारमार्थे पृथ्वीं त्यजेत्'। वह आत्मा समस्त जीवन की अर्थवत्ता से एकाकार होकर सोचती है और उसके इस प्रकार चिंतनशील और ध्यानशील रहने से ही संस्कृति विवर्तमान होती है, वह जड़ नहीं रहने पाती। भारतीय संस्कृति को निरंतर निखार मिला है दो प्रक्रियाओं से। एक प्रक्रिया है स्वधर्म के पहचानने की और उसके निर्दिष्ट मार्ग पर कुशलतापूर्वक सावधानी के साथ चलने की। इस प्रक्रिया में मौखिक परंपरा से कुछ-न-कुछ प्राप्त रहता है, कुछ-न-कुछ निश्चित रहता है, पर कुशलता और सावधानी तो हमेशा साधनी ही पड़ती है। यही कर्ममार्ग है।

दूसरी प्रक्रिया है, जिसे संचालित करते हैं ऐसे लोग, जो दिए हुए मार्ग को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं करते, वे स्वयं एक मार्ग का अन्वेषण करते हैं। पर अन्वेषण के पथ पर चलने के पहले वे व्यक्ति के रूप में मर जाते हैं, समाज में रहते हुए भी समाज से अलग हो जाते हैं, देश और काल में रहते हुए भी देश-काल से अलग हो जाते हैं। ऐसे साधक जो साक्षात्कार करते हैं, केवल अपने लिए नहीं करते, वे लोक के लिए करते हैं और किसी भी व्यवस्था को जैसी की जैसी नहीं रहने देते, उनके नाम पर जब फिर एक व्यवस्था चल पड़ती है तो फिर कोई उसे तोड़ने के लिए आगे हो जाता है। यहां पंथ या संप्रदाय का समाधान पंथ या संप्रदाय में नहीं छेड़ा जाता, यंत्र का समाधान यंत्र में नहीं ढूंढा जाता, यहां समाधान उत्सर्ग और आत्मसाक्षात्कार में या कर्मयोगपूर्वक भक्तियोग में या स्वीकारपूर्वक निषेध में या देहपूर्वक विदेह में ढूंढा जाता है। यह समाधान न कोरी पारलौकिक चेतना वाले व्यक्ति की समझ में आ सकता है, न कोरी लौकिक चेतना वाले व्यक्ति की समझ में आ सकता है। इसे समझने के लिए धैर्य और साहस दोनों चाहिए।

आज समय भागा जा रहा है और लोग समय से भी ज्यादा तेजी से भागे जा रहे हैं, यह भी भूल गए हैं कि कहां जाना है, बस जाना है और यह है कि कोई दूसरा आगे तो नहीं बढ़ गया? ऐसे भागमभाग में यह कहना कि मैं चूहों की

दौड़ में शरीक होने से इन्कार करता हूं, बड़े साहस की बात है।

भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकारियों के पास आज न धैर्य है न साहस। साहस भी हमें दूसरा कोई दिलाए तो आए और धैर्य से हम जैसे ऊबे हुए हैं। हर आदमी अधिक-से-अधिक उगाहने में लगा है, उगाहकर क्या होगा, उत्पादन करके क्या होगा? इसे सोचने के लिए आदमी रुकना नहीं चाहता। पर हवा कह रही है रुको, सांस ले पा रहे हो कि नहीं; पानी कह रहा है, रुको, प्यास लगी है, पहले देखो पानी पीने लायक रह गया है या नहीं। यहीं अपने आप भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता आती है।

अपने देश में बहुत-से लोग अभी भी ऐसे व्यामोह में पड़े हुए हैं कि वे इस विचारधारा को एक ऐशपरस्ती समझते हैं। कहते हैं कि हमें तो अभी और अन्न उपजाना है, वस्त्र उत्पादन बढ़ाना है, रिहाइश के और सामान साधारण लोगों के लिए मुहैया करने हैं, हम तकनीकी विकास की गति रोकेंगे तो पिछड़ा जाएंगे, हमें पहले मनुष्य की चिंता करनी है। वन्य जीवन, वनस्पति, पशु-पक्षी इनकी बात बस पोस्टरों तक है, पत्र-पत्रिकाओं के वाग्विलास तक है तो ठीक है। तकनीकी का जाल बिछाने वाला मछेरा घबरा रहा है कि कहीं जाल उसी को न समेट ले। वह अपने यहां रासायनिक कीटाणु नाशकों का प्रयोग हमारी अपेक्षा लगभग चौथाई मात्रा में कर रहा है, वह जीवन की रक्षा के उपाय कर रहा है, वह विनाश की सामग्री दूसरों के कंधों पर डाल रहा है और हम हैं कि जाल में फंसते जा रहे हैं। हम फंसते जा रहे हैं अनियंत्रित भूख के जाल में, कसते जा रहे हैं गंतव्यहीन प्रगति के जाल में, आकारहीन, लक्ष्यहीन, प्राणहीन।

हमारी नदियां और तेजी से गंदली हो रही हैं, हमारे शहर और तेजी से दमघोंटू जहरीली हवा अपने नथुनों में भरते जा रहे हैं, हमारे वन-पर्वत और तेजी से वीरान होते जा रहे हैं और हमारी मांगें विज्ञापनों के दबाव में और तेजी से आवश्यकता की अपेक्षा के बिना बढ़ती जा रही हैं। हम प्रकाश के ज्वार में नहाए हुए लोग अब प्रकाश के सामने जाने से, निरावरण होने से घबराने लगे हैं। सरकार नदियों का प्रदूषण दूर करे, वन लगाए, फैक्टरियों का जहरीला धुआं रोके, हमसे क्या मतलब। हमें कचरा फेंकना है, हमें प्राकृतिक साधनों का उपयोग अधिक-से-अधिक अपने लिए चाहिए ही चाहिए। बहुत होगा तो कुछ सुगंधित द्रव्यों का हवन अपने घर में कर लेंगे, प्रदूषण मिट जाएगा। फिल्टर खरीद लेंगे, पानी स्वच्छ मिलेगा। भाषण और दूरदर्शन की, शिक्षाप्रद फिल्म से संतोष करने वाली अकर्मण्य लोगों के लिए ही यह विचारधारा प्रासंगिक हो गई है। सपने और वे भी दूसरों के, जीवन की राह नहीं बनाते।

भारतीय परंपरा आरोपित उद्धार में विश्वास नहीं करती, वह कहती है तुम अपने उद्धारकर्ता स्वयं हो, अंतर्दीप बनो, आत्मदीप बनो। तुम्हारे आस-पास जो अशिव है, जो संपूर्ण जीवन का निषेधक है, उसका प्रतिरोध करो। छोटे-छोटे अंधकारों से, नरकों से बड़ा अंधकार, बड़ा नरक बनता है, छोटे-छोटे दीपक ही उनका प्रतिरोध करेंगे तो बड़ी दीप दीपावली का प्रकाश होगा।

मनुष्य के अविनाशी जीवन भाव को ग्रसने के लिए उपभोक्ता संस्कृति का राहु मुंह बाए खड़ा है, हरेक मनुष्य के सामने यह चुनौती है कि सबकी आवश्यकता, प्राणीमात्र की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता मानोगे तो जी सकोगे। अपने भीतर झांको; जैसी प्यास जीने की तुम्हारे भीतर है, वैसी ही अन्यत्र भी है, पौधे में भी है, जमीन में भी है, चिड़िया में भी है, पत्थर में भी है, पानी में भी है। तुम संत न बनो, संन्यासी न बनो पर घरबारी, अच्छे घरबारी तो बनो और पहचानो कि घर कितना बड़ा है और तब दीप जलाओ, भले ही अपनी वासना को बत्ती बनाके जलाना पड़े। भरो अपना पूरा स्नेह, अपने क्षुद्र स्वार्थ को पेर कर निकाला हुआ स्नेह, भरो अपने देह के दीप में और तब देखो वह दीपक कितना बड़ा हो जाता है, वह गुरुनानक के शब्दों में 'गगन के थाल' 'रविचन्द्र दीपक जरे' वाली विशाल आरती का दीपक बन जाता है। क्या हम परंपरा की पुकार सुनेंगे? ❖

जो समाज बहुत गरीब बन जाता है उसमें बराबरी की भूख इतनी जल्दी नहीं लगती है क्योंकि उसकी इच्छा और उद्देश्य, प्रायः केवल पेट भरने का हो जाता है या पेट भरने से थोड़ा ज्यादा हो जाता है। इसीलिए हिंदुस्तान जैसे देश में साधारण जनता यानी गरीब आदमी क्रांति को इतना नहीं समझेगा जितना कि राहत वाली राजनीति को। वह बराबरी को इतना नहीं समझेगा, जितना कि बख्शीश को।

—डॉ. राममनोहर लोहिया

जब व्यक्ति का नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र गड़बड़ा जाता है तो बीमारियों का द्वार खुल जाता है। यह निषेधात्मक भाव हमारी प्रतिरोधात्मक शक्ति को भी कम करता है। जब प्रतिरोधात्मक शक्ति क्षीण हो जाती है तो बीमारी अपना स्थान बना सकती है। इस प्रतिरोधात्मक शक्ति का स्रोत बाहर नहीं, भीतर है। यह प्रतिरोधात्मक शक्ति है—मन की पवित्रता, भावों की पवित्रता और कषाय की उपशांति। महावीर की प्रतिरोधात्मक क्षमता के सामने बाहर के कारण उन्हें प्रभावित नहीं कर सके, बल्कि उनकी शारीरिक क्षमता और अधिक मजबूत बनी।

महावीर की स्वस्थता का रहस्य

❑ साध्वी विमलप्रज्ञा

धन्वंतरि दिवस पर विशेष

स्वास्थ्य आज की ज्वलंत समस्या है। देश अस्वस्थ है, समाज अस्वस्थ है, परिवार अस्वस्थ है। यह अस्वस्थता शारीरिक भी है, मानसिक भी है और भावनात्मक भी है। यह अस्वस्थता ही सब समस्याओं की जड़ है, सारी विपदाओं की जननी है। इस अस्वस्थता के कारणों की मीमांसा करें तो अनेक कारण सामने आएंगे। इस संदर्भ में महावीर के दर्शन की यात्रा करें, महावीर के जीवन को पढ़ें तो कुछ नए तथ्य ही उपलब्ध होते हैं, एक नई प्रकाश रेखा उभर आती है। महावीर का दर्शन न चिकित्सा का दर्शन है, न स्वास्थ्य का दर्शन, महावीर का दर्शन है—तपस्या का, संयम का, पवित्रता का और अध्यात्म का। महावीर ने आत्म पवित्रता के लिए ही जीवन जीया, शरीर का पोषण किया। इसी अध्यात्म के दर्शन में स्वास्थ्य का दर्शन सहज ही फलित हो गया।

भगवान महावीर की स्तुति में स्तुतिकार ने भगवान की स्वस्थता के राज का एक श्लोक उद्घाटित किया है—

वपुरेव तवाचष्टे! भगवन् वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाद्वलः।।

भगवन्! आपका यह शरीर बोल रहा है कि आप वीतराग हैं। क्यों? जिस कोटर में आग लगी है, क्या वह वृक्ष हरा-भरा होगा? यदि आपके भीतर भी काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय की ज्वाला प्रज्वलित होती तो क्या आपका शरीर इतना मजबूत होता? क्या इन संघर्षों को झेल पाता? कभी नहीं। इसका फलित हुआ कि स्वास्थ्य का संबंध केवल शरीर से ही नहीं है, इससे परे भी है—वह है हमारा चित्त, मन और भाव।

महावीर का साधना काल, संघर्षों से भरी पगडंडियां, अनार्य देश और अपरिचित लोग। कुत्ते काटने को दौड़ते, लोग दंड, मुष्टि या फलक से प्रहार करते, गालियां देते, अपमान करते। पर महावीर की मुस्कानभरी यात्रा न रुकी, न थमी। देह को ठिठुराने वाली सर्दी, तन को झुलसाने वाली गर्मी में भी महावीर ने न सर्दी से अपनी सुरक्षा की, न गर्मी से बचाव किया। मच्छरों ने दंश लगाया, कीड़ों ने काटा, चंड कौशिक सर्प ने डंक मारा, पर महावीर ने कभी शरीर का परिकर्म नहीं किया। किसी उपचार का कभी सहारा नहीं लिया। उनका शरीर कभी उनकी साधना में बाधक नहीं बना। उन्होंने सदा स्वस्थता का अनुभव ही किया। कैसे? उनका शरीर भी हाड़-मांस का ही शरीर था। वह संवेदन-शून्य नहीं था। फिर भी वे स्वस्थ रहे। उसका रहस्य यदि चिकित्सा जगत के हाथ में आ जाए तो चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

बीमारी के अनेक कारण हो सकते हैं। मुख्यतः बाह्य कारण ही ध्यान में आते हैं। जबकि बड़े कारण हमारे भीतर होते हैं। स्वास्थ्य के साथ भाव और संवेग का बहुत बड़ा संबंध है। कषाय जितना उपशांत रहेगा, व्यक्ति उतना ही स्वस्थ रहेगा। कषाय की प्रबलता शरीर को रुग्ण बना देती है। व्यक्ति जब क्रोध के क्षणों में होता है, तब पित्त का वेग

बढ़ जाता है। जब व्यक्ति काम, शोक और भय के भावों से गुजरता है तो वायु का वेग बढ़ जाता है। जब ये संवेग प्रबल होते हैं तो शारीरिक अंतःक्रियाओं में परिवर्तन होता है। विज्ञान की भाषा में इन क्षणों में 'एड्रीनल ग्लेंड' का काफी सक्रिय होना माना जाता है, जिससे शारीरिक क्रियाकलाप गड़बड़ा जाते हैं। ये निषेधात्मक भाव हमारे शरीर पर सीधा प्रहार नहीं करते, किंतु शरीर के माध्यम से करते हैं। हमारे शरीर का महत्त्वपूर्ण अंग है मस्तिक, उसका एक भाग है 'हाइपोथेलेमस'। यह भावनाओं को पकड़ता है। नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र के माध्यम से शरीर को प्रभावित करता है। जब व्यक्ति का नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र गड़बड़ा जाता है तो बीमारियों का द्वार खुल जाता है। यह निषेधात्मक भाव हमारी प्रतिरोधात्मक शक्ति को भी कम करता है। जब प्रतिरोधात्मक शक्ति क्षीण हो जाती है तो बीमारी अपना स्थान बना सकती है। इस प्रतिरोधात्मक शक्ति का स्रोत बाहर नहीं, भीतर है। यह प्रतिरोधात्मक शक्ति है—मन की पवित्रता, भावों की पवित्रता और कषाय की उपशांति। महावीर की प्रतिरोधात्मक क्षमता के सामने बाहर के कारण उन्हें प्रभावित नहीं कर सके, बल्कि उनकी शारीरिक क्षमता और अधिक मजबूत बनी।

तनाव वर्तमान की अहम समस्या है। व्यक्ति के अपने आचरण, पारस्परिक कटु-व्यवहार, प्रतिकूल घटनाएं, अति व्यस्त दिनचर्या—व्यक्ति को तनाव से भर देते हैं। इसी तनाव से हृदय रोग, उच्च रक्तचाप जैसी बीमारियां उभर आती हैं, प्राण-ऊर्जा असंतुलित हो जाती है। काम केंद्र में संचित अधिक ऊर्जा काम वासना को प्रखर बना देती है। नाभि में अधिक ऊर्जा का संचय क्रोध और चिड़चिड़ेपन को जन्म देता है। अधिक तनाव अनिद्रा की बीमारी को प्रवेश देता है। तनावमुक्ति का अमोघ उपाय है—कायोत्सर्ग। खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने से प्राण ऊर्जा स्वतः संतुलित हो जाती है।

महावीर की स्वस्थता का रहस्य है—कायोत्सर्ग। महावीर घंटों खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते। कायोत्सर्ग के माध्यम से उन्होंने ऐसे तेजस्वी वलय का निर्माण कर लिया था कि बाह्य शक्तियां उससे टकरा कर स्वयं क्षीण हो जाती। महावीर की स्वस्थता पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

बारह वर्ष के साधना काल में महावीर ने तपस्या के द्वारा अपने शरीर को तपाया। लंबे काल तक आहार-पानी ग्रहण नहीं किया। बिना आहार के शारीरिक अवयव भी क्षीण नहीं हुए, यह तथ्य चिकित्सा क्षेत्र में एक नई दृष्टि देता है। हमारा शरीर स्वयं प्रोटींस पैदा करता है। लेकिन कब? जब भाव विशुद्ध हो, लेश्या निर्मल हो, अध्यवसाय पवित्र हो, किसी प्रकार की उत्तेजना या आवेश न हो। ऐसे क्षणों में शरीर स्वयं ऐसे स्रावों का निर्माण कर लेता है जो शरीर के लिए अत्यंत उपयोगी हों। महावीर ने इन स्वतः निर्मित स्रावों से शरीर की सुरक्षा की।

महावीर अपने साधनाकाल में बहुत कम बोलते थे। वाणी का असंयम भी रोग पैदा करता है। इससे जीवनी-शक्ति क्षीण होती है। आयुर्वेद के अनुसार बोलने का कार्य उदान वायु करती है तथा शरीर को बल प्रदान करने का कार्य भी उदान वायु करती है। अधिक बोलने से वायु में क्षीणता आती है जिससे शारीरिक और मानसिक दौर्बल्य की उत्पत्ति होती है। महावीर की मौन-साधना ने इस शक्ति का संवर्धन-संरक्षण किया।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में अच्छे स्वास्थ्य का रहस्य है—

मस्तिष्क की आर्द्रता, सुषुम्ना अथवा मेरुदंड का लचीलापन, अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों का संतुलन और रक्त का सम्यक् संचरण।

योगासन अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव को संतुलित करता है, रक्तसंचार प्रणाली को संतुलित बनाता है, रीढ़ की हड्डी को लचीलापन देता है।

महावीर ने अनेक आसनों का प्रयोग किया। कैवल्य प्राप्ति के समय भी वे गोदोहिका आसन में थे। महावीर ने पांच प्रकार की निषद्याएं—बैठने की विधियां बताई हैं—

1. उत्कटुकासन, 2. गोदोहिका, 3. समपादपुता, 4. पर्यंकासन, 5. अर्द्धपर्यंकासन।

भगवान स्वयं भी इन आसनों से गुजरे, कायक्लेश से शरीर को साधा। योगासन अनेक बीमारियों की अचूक दवा है। जो व्यक्ति निरंतर योगासनों का प्रयोग करता है, बीमारी दूर से ही अपना रास्ता बदल लेती है।

महावीर की जीवन-शैली एक नया तथ्य प्रस्तुत करती है कि बीमारी का कारण बाह्य ही नहीं, आंतरिक भी है। महावीर की स्वस्थता का राज था—वीतरागता की साधना, कषायों की उपशांति, लंबे काल तक कायोत्सर्ग का प्रयोग ओर मौन का संकल्प, योगासनों से शरीर को साधना और अनाहार का प्रयोग करना।

भगवान महावीर की स्वस्थता के इन सूत्रों को आज हम दिशा-निर्देशक सूत्रों की तरह मानना-जीना शुरू कर दें तो हम भी स्वस्थ बन सकते हैं। ❖

बच्चों को कभी भी नासमझ नहीं समझा जाए। दो प्रकार के मन होते हैं—चेतन मन और अवचेतन मन। बालक का अवचेतन मन अधिक सक्रिय होता है। अपने घर के सदस्यों का जैसा व्यवहार, आचरण व क्रिया वह देखता है, वे उसके अवचेतन पर गहरे जम जाते हैं।

मेरा प्यारा बचपन

❑ समणी विपुल प्रज्ञा

बालक का जीवन कोरा कागज, मिट्टी का कच्चा घड़ा, सफेद वस्त्र और उगता हुआ पौधा जैसा होता है। अभिभावक अपनी इच्छानुसार उस पर लिख सकते हैं, उसे गढ़ सकते हैं, रंग भर सकते हैं और उसके जीवन को पल्लवित व पुष्पित कर सकते हैं। कहा जाता है, बालक देश का भविष्य है। बालक राष्ट्र निर्माण की मूल पूंजी है। बच्चे का जीवन स्वच्छ, सुंदर और संस्कारों से युक्त हो तो परिवार, समाज व देश स्वयं ही उन्नति की ओर अग्रसर होकर समृद्ध हो जाता है।

गुरुदेव श्री तुलसी के शब्दों में 'संसार रूपी वाटिका का सबसे सुन्दर फूल है बालक। बाल क्रीड़ाएं सहज ही सबके मन को आकर्षित करने वाली हैं।' बालक की प्रत्येक क्रिया—रोना-हंसना, खाना-पीना, बोलना-खेलना इत्यादि स्वाभाविक होती हैं। बालक रूठता है तो सबको प्यारा लगता है, उसका व्यवहार निश्छल व निर्दोष होता है। वह किसी प्रकार का भेदभाव नहीं जानता और सबके साथ उसका आत्मीय व्यवहार होता है। बच्चे का जीवन उपजाऊ भूमि की तरह है, उस भूमि में जैसे बीज बोएंगे, वैसे ही अंकुर फूट पड़ेंगे। इसलिए बालक के नव निर्माण के लिए अभिभावक, अध्यापक व उसके साथ रहने वाले सभी सदस्यों का जागरूक रहना बहुत जरूरी है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे बालक के सामने कैसा आचरण करते हैं। सद् आचरण युक्त जीवन बहुत जरूरी है। अभिभावकों व शिक्षक वर्ग को इस में ज्यादा सावधानी बरतनी आवश्यक है।

बाल दिवस पर विशेष

बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए उन्हें चारित्रिक मूल्यों का बोध दिया जाना चाहिए। बच्चे अपने क्रोध पर नियंत्रण कैसे करें, प्रारंभ से ही उनमें अनुशासन कैसे आए, बड़ों का आदर-सम्मान करना और दूसरों के अधिकारों को मान देना कैसे सीखे?

वर्तमान समय में बच्चों का आचरण व व्यवहार देखते हुए अक्सर ऐसा लगता है कि बच्चों की नैसर्गिक कल्पना शक्ति लुप्त प्रायः सी हो गयी है। इसके कई कारण हैं। एक बड़ा कारण है—जैसे दूध में शक्कर घुल जाती है वैसे ही दूरदर्शन बच्चों के जीवन में एकमेक होकर घुल गया है। बच्चों के मानसिक व भावनात्मक स्तर पर सबसे ज्यादा प्रभाव इसका होता है। परिणामतः बालक का जीवन असंतुलित व असहिष्णु हो जाता है। बच्चों के अवचेतन पर दूरदर्शन के दृश्यों का गहरा असर पड़ता है। लगता है मानो बच्चों का बचपन ही छीन लिया है और बचपन की मासूमियत कहीं गायब हो गयी है। लगता है बालक का बचपन कहीं खो गया है। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि अभिभावक बच्चे के बारे में सोचते हैं कि यह डॉक्टर, वकील या इंजीनियर बनेगा, पर इस बात पर ध्यान नहीं जाता कि उसकी सारी क्रियाएं जैसे—खाना-पीना, सोना, उठना-बैठना, पढ़ना किस माहोल में हो रहा है। एक सर्वेक्षण के अनुसार 20 वर्ष की उम्र तक वह 35000 हत्याएं और 72000 बलात्कार देख लेता है।

दूसरी और एक बालक महात्मा गांधी भी थे। बचपन में बालक श्रवण की भक्ति व राजा हरीशचन्द्र का नाटक देख उन्होंने उम्रभर के लिए संकल्प किया कि वे सच्चे मन से मां-बाप की सेवा करेंगे तथा ईमानदार व सत्यवादी बनेंगे। आज का बालक अपना आदर्श किसको बनाता है? फिल्मी हीरो या हीरोइन को? एक बालक बताता है 'मैं

गोविंदा का दीवाना हूं क्योंकि वह 'फाइटिंग' जबरदस्त करता है।' मां-बाप भी सुनकर प्रसन्न होते हैं। किसी विदेशी बच्चे से पूछा जाए कि तुम्हारे मां-बाप कौन हैं, उनका नाम क्या है? बालक जवाब देता है—'टी.वी.' मेरे पिता हैं और 'फ्रीज' मेरी मां है। बालक की देखभाल करने की फुर्सत मम्मी-पापा को नहीं है। जो ज्ञान या संस्कार पिता को देने चाहिए वह टी.वी. देता है और जो भोजन मां को खिलाना चाहिए उसकी पूर्ति (फ्रीज) करता है। मम्मी-पापा, क्लबों, होटलों में, पार्टी में जाते हैं या दोनों काम-काजी हैं। बालक अकेला घर में रहता है—यही उसकी जिंदगी है। एक बच्चा नहीं, अनेक मासूम बच्चों की ऐसी स्थिति है। जिन्हें मां-बाप का प्यार-दुलार नहीं मिलता। बालक अपने बचपन का आनंद नहीं ले पाता।

माता-पिता के कुशल संरक्षण में ही बच्चे का बचपन सुरक्षित रह सकता है। पिता से भी माता की जिम्मेदारी अधिक बनती हैं। बच्चों के जीवन को सद् संस्कारों से पल्लवित व पुष्पित करने में मां का सर्वाधिक योगदान है।

महान चिंतक हर्बट ने कहा है—'One good mother is worth than a hundred school masters'. 'Home is the first and most Important school of character'.

माता कस्तूरी बाई ने अपने घर-आंगन और गोद में खिलाते-रमाते गांधी के जीवन में सद्संस्कारों के बीजों का वपन किया। वे संस्कार जीवन भर गांधीजी का मार्ग प्रशस्त करते रहे। कहने का तात्पर्य है कि बाल मानस पर जो संस्कार जम जाते हैं वे जीवनपर्यंत बने रहते हैं। इसीलिए अभिभावकों को बार बार प्रेरित किया जाता है कि वे अपने बच्चों के बचपन को सुरक्षित बनाए रखें, तभी उनका भविष्य सदा सुरक्षित बना रह सकेगा।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि बच्चों को कभी भी नासमझ नहीं समझा जाए। दो प्रकार के मन होते हैं—चेतन मन और अवचेतन मन। बालक का अवचेतन मन अधिक सक्रिय होता है। अपने घर के सदस्यों का जैसा व्यवहार, आचरण व क्रिया वह देखता है, वे उसके अवचेतन पर गहरे जम जाते हैं, वे जीवनपर्यंत बने रहते हैं। इस संदर्भ में एक प्रसंग इस बात को अधिक स्पष्ट करता है—एक दम्पति के दो सन्तानें थीं। लड़की सात साल की और लड़का पांच साल का। वे दोनों प्रायः बच्चों के सामने जो मन में आता बोल दिया करते थे, छोटी-छोटी बातों में पति-पत्नी प्रायः उलझ जाया करते थे। लड़ाई-झगड़े के ऐसे ही संस्कार बाल मानस पर अंकित हो गए। एक दिन घर के बगीचे में दोनों भाई-बहिन खेल रहे थे। भाई चुप बैठा था और बहिन चिल्ला-[illegible] भाई को [illegible] थी। उसकी चिल्लाहट रसोईघर में पहुंची। मां दौड़कर बगीचे में आ गई—देखा मुन्ना चुप तो बैठा है और गुड़िया उसे डांट रही है। आव देखा न ताव मां ने मासूम बिटिया के गाल पर दो चप्पत जमा दी और बोली—अपने भाई को इस तरह डांटती हो? सुबक कर रोनी हुई गुड़िया बोली—मम्मी! हम तो मम्मी-पापा का खेल खेल रहे थे। जब तुम पापा को जोर से डांटती हो तो पापा चुप हो जाते हैं और तुम अकेली ही लगातार बोला करती हो।

इस सच्चाई को सुनकर कौन मम्मी अवाक् नहीं रह जाएगी। और अपनी भूल का अहसास नहीं होगा। हमारे ही गलत व्यवहार से बच्चों का जीवन बिगड़ रहा है। अतः यह जरूरी है कि अभिभावक स्वयं के व्यवहार को अच्छा बनाएं ताकि वे बच्चों के पूर्ण व्यक्तित्व विकास में अपनी पूरी जिम्मेदारी निभा सकें। यदि पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति सहिष्णु हैं तो बच्चों में स्वतः ही सहिष्णुता के भाव विकसित हो जाएंगे।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'हमने 21वीं सदी में प्रवेश किया है, इस वैज्ञानिक युग में अनेक समस्याएं हैं। सबसे बड़ी समस्या 'असहिष्णुता' की है। यह असहिष्णुता का युग है।' आज छोटा बालक भी इस समस्या से ग्रस्त है। सद्संस्कारों के अभाव में एक बालक भी यह कहता है कि मैं किसी के नियंत्रण में रहना पसंद नहीं करता, मुझ पर किसी का दबाव नहीं होना चाहिए। इस प्रकार एक दूषित मानसिकता का वातावरण समाज में फैल रहा है जो आपस में दरार, संयुक्त परिवार में बिखराव व नफरत की आग फैलाकर मानव जीवन को खोखला कर रहा है। सुसंस्कार न मिलने के कारण ये ही बच्चे बड़े होकर अपने घरोंदे उजाड़ने के निमित्त बनते हैं।

जीवन जीने की कला से अनजान आज की पीढ़ी में सहनशीलता का लगभग अभाव होता जा रहा है। आवश्यकता है कि बच्चों में प्रारंभ से ही सामाजिक एवं व्यावहारिक ज्ञान की नींव डाली जाए जिससे वे बच्चे अपने सद्गुणों की सौरभ से समाज को सुरभित कर सकें। इसके लिए यही अपेक्षित है कि अभिभावक अपने बच्चों को भावनात्मक संबल, प्यार व आत्मीयता प्रदान करें। माता-पिता एवं बच्चों के बीच एक स्वस्थ परि संवाद बना रहे जिससे बच्चों का बचपन सुरक्षित रह सके। फिर यह आवाज नहीं उठेंगी कि—

कहाँ खो गया बचपन? मेरा प्यारा बचपन। ❖

यह कहते ही सब वाह-वाह कर उठे। सोमभद्र को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। बात अपने आप अच्छी तरह से जम गई। राजा ने सोमभद्र को उठाकर गले लगा लिया। ढेर सारे उपहार लाने और अपने मित्र के समाचार-संवाहक होने के नाते उसे खूब सम्मान दिया। राजा ने उसे अपने निजी अतिथि गृह में ठहराया। एक सप्ताह के बदले एक महीने रखा। पूरे कलिंग देश का सोमभद्र ने भ्रमण किया। एक महीने में अनेक लाभकारी एवं महत्त्वाकांक्षी योजनाओं के बारे में चिंतन चला। उसके लिए इच्छित सहयोग करने का राजा ने करार कर दिया।

यश-अपयश

❑ मुनि सुमेरमल लाडनूं

काशी राज्य की राजसभा में एक प्रसंग छिड़ गया। राजा ने यह जानना चाहा—राजदूतों की नियुक्ति किस आधार पर की जानी चाहिए? उनमें कौन-से गुण होने चाहिएं? सभासदों द्वारा अनेक गुण बतलाए गए। उसी सभा में एक वृद्ध मंत्री चुपचाप बैठा था। उसकी ओर इशारा करते हुए राजा ने पूछा—महामात्य! आप चुपचाप कैसे बैठे हैं? कुछ कहो।

वृद्ध मंत्री ने कहा—राजन्! सब कुछ होते हुए भी यशस्वी होना चाहिए। इसके बिना सब व्यर्थ है।

राजा—बात तो ठीक है, पर इसका पता कैसे चले?

मंत्री—राजन्! जो सर्वगुण संपन्न हो उन दो-चार व्यक्तियों को कहीं अलग भेजना चाहिए, फिर देखें, कौन अपने कार्य में सफल होता है, उस आधार पर इनकी राजदूत के पद पर नियुक्ति होनी चाहिए।

राजा—हमें आज ही इसका प्रयोग करके देखना चाहिए। विमलवाहन और सोमभद्र—इन दो युवकों को विभिन्न कसौटियों में कसते हुए छांटा गया। ये दोनों कितने यशस्वी हैं? इसकी परीक्षा के लिए दोनों को क्रमशः कौशल और कलिंग देश भेजा। उन देशों के राजाओं को उपहार-स्वरूप कई वस्तुएं इनके साथ भेजी, उनमें एक चांदी की डिब्बी में चूना भरा हुआ भेजा।

दोनों काशी से चले। विमलवाहन कौशल देश की राजधानी पहुंचा और वहां के राजा से मिला। प्रारंभिक शिष्टाचार के बाद विमलवाहन ने अपने राजा के उपहार भेंट किए। राजा ने एक-एक वस्तु को गौर से देखना प्रारंभ किया और सभासदों को भी दिखाने लगा। देखते-देखते उस चूने से भरी चांदी की डिब्बी को भी देखा। सब बोल उठे—यह किसलिए? इतने में किसी ने कह दिया—चूना भेजकर काशी नरेश ने संकेत किया है—यदि हमारे साथ लड़ाई करोगे तो सबके चूना लगा देंगे। बस! इतना कहने के साथ ही सब भड़क गए। विमलवाहन ने इसे स्पष्ट करने की बहुत कोशिश की, किंतु असफल रहा। उसकी बात जमी नहीं। सब-कुछ उखड़ गया। शताब्दियों की मैत्री समाप्त हो गई। राजा लड़ने को आमादा हो गया। विमलवाहन के मुख पर ही वह चूना लगाया गया और युद्ध की घोषणा के साथ उसे वहां से निकाला गया। विमलवाहन ने काशी पहुंचकर राजा को सारी स्थिति से अवगत कराया। सब समझ गए—यह यशस्वी नहीं है।

दूसरा सोमभद्र कलिंग देश की राजधानी पहुंचा। राजा से मिला, मैत्री संदेश दिया। औपचारिक बातचीत के बाद उपहार-स्वरूप वस्तुएं भेंट की। राजा अपने मित्र राजा के उपहार देखकर प्रसन्न हो रहे थे और वे उपहार राजसभा के सदस्यों को भी दिखा रहे थे। देखते-देखते चूने वाली चांदी की डिब्बी हाथ में आई, तो विस्मित हुए। इसके भेजने का कारण ढूंढ़ने लगे। पार्श्व में बैठे सदस्य भी सोचने लगे। इतने में एक मंत्री ने कहा—यह मैत्री का चूना है। कहीं आशंकाओं की दरार पड़ी हो तो उसे पाटकर इससे पलस्तर करने के लिए काशी नरेश ने भेजा है।

यह कहते ही सब वाह-वाह कर उठे। सोमभद्र को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। बात अपने आप अच्छी तरह से जम गई। राजा ने सोमभद्र को उठाकर गले लगा लिया। ढेर सारे उपहार लाने और अपने मित्र के समाचार-संवाहक होने के नाते उसे खूब सम्मान दिया। राजा ने उसे अपने निजी अतिथि गृह में ठहराया। एक सप्ताह के बदले एक महीने रखा। पूरे कलिंग देश का सोमभद्र ने भ्रमण किया। एक महीने में अनेक लाभकारी एवं महत्त्वाकांक्षी योजनाओं के बारे में चिंतन चला। उसके लिए इच्छित सहयोग करने का राजा ने करार कर दिया।

कलिंग नरेश ने सोमभद्र को प्रशस्ति पत्र लिखा तथा बहुमूल्य पुरस्कार दिए जिनमें काशी नरेश के लिए अनेक उपहार दिए। साथ ही उसने अपने हस्ताक्षर से युक्त पत्र भी दिया जिसमें काशी राज्य की कल्याणकारी योजनाओं में भारी सहयोग करने का आश्वासन दिया। काशी नरेश ने जब सब-कुछ सुना, तब सभी ने एक स्वर से निर्णय दिया— यह यशस्वी है। बिना कुछ विशेष परिश्रम किए, यह बहुत लाभ के कार्य करके आया है। राजा ने उसे योग्य समझकर मुख्य राजदूत नियुक्त कर दिया।

उस महीने काशी में चार ज्ञान के धारक मुनि विद्युत्प्रभ पधारे। राजा प्रवचन सुनने गया। तदंतर पूछा—मुनि प्रवर! मेरे राज्य के ये सब प्रकार से शिक्षित युवक विमलवाहन और सोमभद्र हैं। इन दोनों को दो मित्र देशों में मैत्री यात्रा पर भेजा। दोनों को समान उपहार की वस्तुएं दीं। एक युद्ध की घोषणा लेकर आया है, जबकि दूसरा राज्य के लिए उपयोगी कार्य करके आया है तथा अपने लिए प्रशस्ति पत्र आदि भी लाया है। दोनों समान शिक्षित होते हुए भी यह अंतर क्यों?

मुनि ने कहा—राजन्! यह तो नामकर्म का नाटक है। शुभ और अशुभ नाम कर्म कैसे नचाता है। इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।

ये दोनों पूर्वभव में महान विद्वान थे। विमलप्रज्ञ एवं विशालप्रज्ञ नाम से अपने-अपने राज्य में ख्याति प्राप्त विद्वान थे। इन दोनों के नगर में मुनि श्रुतबाहु पधारे। पहले विमलप्रज्ञ के नगर में पधारे, प्रवचन हुआ, सुनकर लोग बहुत प्रभावित हुए, फिर भी लोग जानकारी की दृष्टि से विमलप्रज्ञजी के पास गए और पूछा—संत कैसे हैं? इनके पास जाना उपयोगी है या नहीं? पंडितजी ने बहुत सहज भाव से गुणगान करते हुए कहा—ऐसे साधु हैं कहां? उत्कृष्ट कोटि के बहुश्रुत हैं, इनके पास जितना समय लगाओगे, सार्थकता होगी। चूको मत, अवसर का लाभ उठाओ। मुक्त भाव से प्रशंसा कर लोगों को प्रेरित किया। फलस्वरूप भारी संख्या में लोग जाने लगे। मुनिजी के प्रवास काल का लोगों ने अच्छा लाभ उठाया। पंडितजी के भी शुभ नामकर्म आदि की पुण्य प्रकृतियों का बंध हो गया।

वहां से विहार कर मुनि श्रुतबाहु विशालप्रज्ञ के नगर में पधारे, लोग मुनिजी से अपरिचित थे, प्रवचन सुना, फिर भी पंडित विशालप्रज्ञ पर लोगों का गहरा विश्वास था, अतः उनसे मुनिजी के बारे में पूछा। विशालप्रज्ञ क्षुद्र श्रुतिवाला विद्वान था, सोचने लगा—सभी इनके पास जाने लगे, तो मेरा स्थान खाली हो जाएगा, फिर इनका ज्ञान भी विशाल है, इनके पास जो महीने भर चला गया वह फिर मेरे पास नहीं आएगा। किसी तरह से इन लोगों को संतों के पास जाने से रोका जाए। विशालप्रज्ञ ने कहा—देखो, ऊपर से अच्छे नजर आते हैं, वक्तृत्व कला में दक्ष हैं। किंतु मुझे अंदर से दंभी लगते हैं। कारण बतलाते हुए कहा—इनकी छाती पर केश नहीं है, अतः ये दंभी,

मायावी होने चाहिए। कान छोटे हैं अतः यशस्वी भी नहीं हैं। यों तो यहां संत आते ही रहते हैं, कोई विशिष्ट ज्ञानी आएंगे तब तुमको बतलाऊंगा, ठोस ज्ञान इनके पास नहीं है।

लोग पंडितजी की बातों में आ गए, मुनि के शरीर को देखा तो छाती पर केश नहीं थे, कान भी कुछ छोटे थे। बस, पंडितजी की बात को हृदय में खटो-खट बैठा लिया, उन्हें क्या पता? मुनि के शरीर में अन्य कई लक्षण श्रेष्ठतम हैं। वे तो पंडितजी के बहकावे में आ गए। फलस्वरूप—संतों के पास जाना-आना कम क्या, बंद जैसा ही कर दिया। मुनिजी की बहुश्रुतता का कोई फायदा नहीं उठा सके। उस समय में विशालप्रज्ञ के ज्ञानी की अवमानना तथा निंदा करने से अशुभ नाम तथा नीच गोत्र कर्म का भारी बंध हो गया। विशालप्रज्ञ पंडित ही यह विमलवाहन है और विमलप्रज्ञ ही यह सोमभद्र है। पिछले जन्म में बांधे हुए शुभ-अशुभ कर्मों को ही दोनों यहां भोग रहे हैं।

मुनि प्रवर से दोनों का जीवन सुनकर सभी विस्मित हो उठे। अपने-अपने भविष्य के प्रति जागरूक बन गए। ❖

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः....पृष्ठ 18 का शेष

'charity" because they cover a multitude of sins.

—Dictonary of Phrases and Fables.

पूंजीवादी उपभोक्तावाद का वर्चस्व चारों ओर व्याप्त है। उत्तर आधुनिक युग का नारा है कि प्रचलित विचारधारा का अंत हो रहा है—इतिहास और दर्शन का भी अंत है। इस पूंजीवादी युग में श्रम और उससे संपृक्त जीवन को हेय गिना गया है और मनुष्य की परख पूंजी या बाजार से होती है। आज इनका जीवन विशाल अट्टालिकाओं, पांच सितारा होटलों, वायुयानों से घिरा है। अभिजात वर्ग को निम्न वर्ग से वितृष्णा है। संचार साधन और सूचना तकनीकी के माध्यम से मानव जीवन इस अपसंस्कृति का (डिसनोमिया अथवा थ्रालडम) शिकार हो रहा है। पुनः एलविन टाफलर के शब्दों में Civilization is in a state of crisis. Crisis is necessary catalyst for change. The old system must enter into a state of Crisis before breaking up to make way for the new. A host of new religions, new in ages of human Nature, new conceptions of science, new forces of arts will arise in far richer diversity than was possible or necessary during the industrial age.

विश्वव्यापी चुनौती के ये विभिन्न सूत्र हैं, जो आज हमें लील रहे हैं। प्रजनन विज्ञान ने सब कुछ परिवर्तित कर दिया है। क्लोनिंग अभिशाप बन गया है। मनुष्य की सिसृक्षा, उसकी वंशावली, उसकी जातीय अस्मिता समाप्त हो रही है एवं इसके साथ ही प्रकृति की सामान्य एवं प्रकृत अवस्था में परिवर्तन हो रहे हैं। आज समाजशास्त्र व्यक्ति और समाज की विसंगतियों का मूल कारण व्यक्ति की अंतहीन आकांक्षा और तृष्णा गिनता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री इरिक बर्न कहता है—There is a dichotomy between ones aspirations and achievements.

डर्कहिम कहता है, 'असीम इच्छाओं की कभी पूर्ति नहीं हो सकती और यह अपूर्णता ही आज व्यक्ति की मनोविदलता का कारण है—विक्षिप्तता और संत्रास का। धर्म के प्रति अनास्था है और नैतिक मूल्यहीनता का दुष्परिणाम हम आज भोग रहे हैं। इसका कारण है असंतोष। भारतीय विचारकों ने इसी से स्पष्ट कहा कि न्यायपूर्वक नैतिक मूल्यों से प्राप्त अल्प धन भी अर्जित किया जाए तो संतोष करना चाहिए। मनु का भी यही मत है।'

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में अर्थ को द्वितीय पुरुषार्थ तो गिना पर उसके सात्त्विक उपार्जन, संरक्षण, सदुपयोग और लोकोपकारी प्रत्ययों की भी चर्चा की। दूसरी ओर उसके दुरुपयोग की, आसुरी वृत्ति की निंदा और वर्जना भी की। दोनों का विवेकसंगत विन्यास और प्रतिपादन भारतीय मनीषा की अन्यतम उपलब्धि है। वैदिक ऋषि ने बताया कि धन वहीं स्थिर होगा जहां त्याग, निरहंकार और लोक-संपादन है, केवल संग्रह और विलासिता नहीं। संग्रह से अधिक लोक-संपादन पर बल दिया। जिन मनीषियों ने आत्म-तत्त्व पर विचार करना चाहा, उनके लिए धन निरर्थक रहा और उसकी सार्थकता कल्याण के लिए ही स्वीकार की। इस मान्यता में कहीं विरोधाभास नहीं। एक ओर अर्थ की स्वीकृति है तो दूसरी ओर अस्वीकृति। जहां त्याग और मानव अभ्युदय की संगति है, वहीं वह पुरुषार्थ है, इसके विपरीत नहीं। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के अगस्त, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के अगस्त अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 30 दिसंबर, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम जनवरी, 2002 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

1			2		3		4	5	
			6			7		8	
					9		10		
11		12							13
				14		15		16	
17									
				18				19	
20	21		22				23		24
					25	26			
27								28	

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0021

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता...

....

....

1. भी देता था, 'हां......, हां सरकार [4]

4. ......शत्रौ च मित्रे च मध्यमे [2]

6. आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि......जनतंत्र की [4]

8. ऐसे......के लिए संपूर्ण समाज में एक ही [2]

9. ......की वर्तमान पद्धति से बहुमत प्राप्त [4]

11. कुछ का संबंध सफाई और......से होता है [4]

14. यह प्रश्न......-कार्यप्रणाली और मानव संबंध के·[3]

16. राजा तो इतना......-पुण्य किया करता है [2]

17. नेतृत्व करने वाला......, नैतिक, ईमानदार [3]

18. कारण......की तरह कोमल तो है ही [3]

20. झिलमिल......की सतहों के बीच [2]

22. जिसके प्रभाव से हम......जाएं [2]

23. चुपचाप......से बाहर निकल कर वह पैदल [3]

25. ......को नई शक्ति देने में [3]

27. आत्मिक आलस्य और मानसिक......से बचाना [5]

28. हमें उस......के समान दूरदर्शी होना चाहिए [2]

ऊपर से नीचे

1. विश्व संसद में साक्षात्कार,......में साक्षात्कार [4]

2. ......विज्ञान, जीव विज्ञान, चिकित्सा और [4]

3. अनैतिक, भ्रष्टाचारी,......व्यक्ति भी मुख्य [3]

5. आचार्य भिक्षु ने जिस बीज का......किया [3]

7. बात करते हैं और पूछते हैं कि......! [2]

10. तब भी हम सभ्य होने का......करें [2]

12. उसको बुरा......हो रहा था कि क्यों वह [3]

13. ......स्वरूप ममलं प्रवदन्ति सन्तः [2]

14. हम......खुश क्यों होते हैं [4]

15. और राजनीतिज्ञ......और इंजीनियर की [3]

17. अतीत की स्मृतियों को......कर रखता है [3]

19. पहले तो उसने चाहा कि वह......लें [2]

21. ......-मार पारंपरिक जकड़ से पिंड छुड़ाना [3]

22. सांस-सांस......रही [3]

23. ......की दुर्बलताओं के बंधन [2]

24. लहरों में अनचाहे......-लहर जाता हूं [3]

26. एक का तीर मारकर......कर दिया तो [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0019

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 दे	व	दा	2 र			3 इ	स	लि	4 ए
व			5 हि	रो	शि	मा			क
लो			त			6 म	7 म	ता	
8 क	द	र		9 य	त्र		का		10 जा
				श			11 न	वी	न
12 फि	जि	क	13 ल		14 फ	15 ल			
ला			गा			16 ह	स	न	
17 स	म		18 म	19 हा	वी	र		20 र	21 ग
फी		22 म		ला			23 मां		ल
	24 ध	न		25 त	मि	ल		26 क्ष	त

प्रथम चयनित विजेता—विवेक मरोठी, बैंगलोर

अन्य दस चयनित विजेता

1. दीपा गोलछा, मदुरई
2. तारामणी सिपानी, मेंगलोर
3. पिंकी गोलछा, सिरसा
4. शैला जैन, जबलपुर
5. मनीषा भण्डारी, बोरावड़
6. शैलेश जैन, इन्दौर
7. विकास कुमार घीया, नोखा
8. मनोज छाजेड़, बालोतरा
9. निर्मला जैन, राजसमंद
10. इन्दु भटेवरा, ब्यावर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

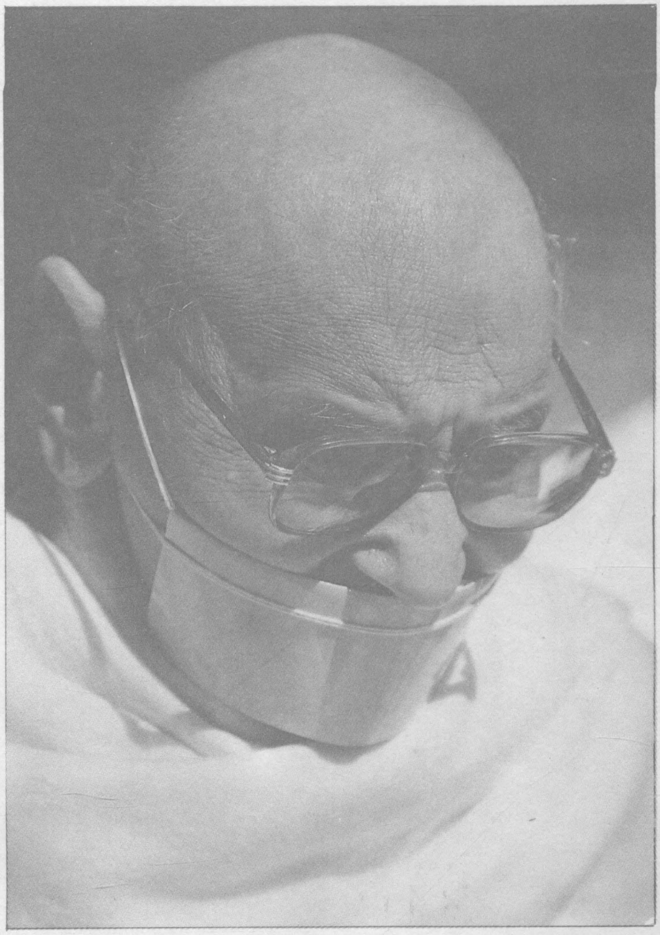

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, नवंबर, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

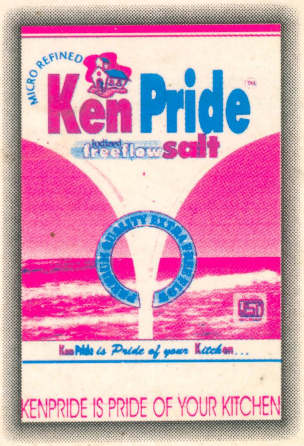

With best compliments from :

SUKHRAJ, BABULAL, TRIBHUVAN KUMAR
ASHOK KUMAR, RAMESH KUMAR SINGHAVI
ASADA-WALA (RAJ.)

TERAPANTH FOODS LTD.

(A FRIENDS GROUP OF COMPANY)

MANUFACTURERS AND EXPORTERS OF REFINED FREEFLOW IODISED SALT,
PURE GRADE INDUSTRIAL SALT AND ALL TYPES OF EDIBLE AND INDUSTRIAL GRADE SALTS.

REGD. OFFICE :
MAITRI BHAVAN, PLOT NO. 18, SECTOR-8
GANDHIDHAM 370201 GUJARAT (INDIA)
Tel. : 091-2836-32227, 31588 Fax : 091-2836-33924, 56687
e-mail : friends@ad1.vsnl.net.in Grams : Terapanthi

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।